जीवन जीने की कला

– श्रीराम शर्मा आचार्य

जीवन जीने की कला

भाग-1

1. मनुष्य से महान और कुछ नहीं
2. अपनी महानता में विश्वास रखें
3. जीवन जीने की कला सीखें
4. मनुष्य, मनुष्य बनकर जीए
5. पशुओं जैसा जीवन त्यागिए
6. देव, दानव या मानव कुछ भी बना जा सकता है।
7. जीवन महान ऐसे बनेगा
8. आत्म-निरीक्षण

यूनिट-१ मनुष्य से महान् और कुछ नहीं

मनुष्य ईश्वर की महानतम कृति :

बाइबिल कहती है, ''मनुष्य ईश्वर की महानतम कृति है।'' किंतु इसके विपरीत हम देखते हैं कि सामान्य से असामान्य बनना तो दूर, व्यक्ति साधारण स्तर का भी नहीं रह पाता है। इसका मूल कारण है अपनी सामर्थ्य का बोध न होना। हनुमान को यदि अपनी सामर्थ्य का बोध रहा होता तो जाम्बवंत के उपदेश की उन्हें आवश्यकता न पड़ती। राम का आदेश पाते ही वह चल पड़ते। जैसे ही सागर किनारे साधारण से वानर हनुमान को अपनी आत्म–गरिमा का बोध हुआ, वह एक ही छलांग में असंभव पुरुषार्थ करने में सफल हो गए। अंगारों पर रखी राख अग्नि की तीव्रता को छुपाए रहती है। जैसे ही उसे हटाया जाता है, वह अपने मूल रूप में देदीप्यमान्, तापयुक्त हो उठती है। सूर्य पर बादल छाए हों तो कुछ देर के लिए वातावरण में ठंडक छा जाती है। बादलों के छँटते ही सूर्य का प्रकाश व गर्मी उस क्षेत्र के हर भाग तक पहुँचने लगती है। अपना आपा भी ऐसा ही प्रकाशवान्, जाज्वल्यमान् है। मात्र कषाय–कल्मषों ने, विस्मृति की माया ने, जन्म–जन्मांतरों के संचित कुसंस्कारों ने उसकी इस आभा को ढँक रखा है। यदि इस मायाजाल का आवरण हटाया जा सके तो असामान्य स्थिति में पहुँच सकना संभव है।

अच्छे से अच्छे कागज पर कीमती रंग भी यदि बेतरतीब फैला दिया जाए तो कागज और रंग दोनों ही व्यर्थ जाएँगे, किंतु उसी कागज पर वही रंग जब कोई चित्रकार तूलिका से लगाता है तो सुंदर छवि बन जाती है। वह छवि हर किसी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करती है। देखने वालों को भी प्रसन्नता होती

है और चित्रकार को भी आत्म संतोष मिलता है । **अपने व्यक्तित्व को भी यदि इस प्रकार की सुंदर छवि प्रदान की जा सके तो स्वयं आत्मसंतोष प्राप्त किया ही जा सकता है और दूसरों को भी उससे प्रफुल्लता-प्रेरणा प्रदान की जा सकती है । जीवन जीने की कला व्यक्तित्व को इसी प्रकार गठित करने की प्रक्रिया का नाम है ।**

अनाड़ीपन सबसे बड़ा संकट :

मोटर चलाना आरंभ कर दिया जाए और न तो ड्राइवरी सीखी हो और न उसके पुर्जों की कोई जानकारी हो तो दुर्घटना की ही आशंका रहेगी । मोटर का टूटना और बैठने वालों का खतरे में पड़ जाना स्वाभाविक है । हिसाब-किताब, क्रय-विक्रय का अनुभव हुए बिना व्यापार क्या चलने वाला है ? जिसे कृषि करना आता ही नहीं वह खेतों में बीज बिखेरता फिरे तो इतने मात्र से अच्छी फसल की आशा कैसे की जाएगी ? फौज, पुलिस, प्रशासन, रेलवे आदि के सरकारी महकमों में काम करने वाले व्यक्ति पहले ट्रेनिंग प्राप्त करते हैं, पीछे उनकी नियुक्ति होती है । यदि ट्रेनिंग के बिना अनाड़ी रंगरूट इन विभागों में नियुक्त कर दिए जाएँ तो किसी अच्छे परिणाम की आशा नहीं की जा सकती । वे अनाड़ी व्यक्ति जहाँ जाएँगे वहाँ संकट ही उत्पन्न करेंगे । महात्मा इमर्सन कहा करते थे ''मुझे नरक में भेज दो, मैं अपने लिए वहाँ स्वर्ग बना लूँगा ।'' वे जानते **थे कि दुनिया में चाहे कितनी ही बुराई और कमी क्यों न हो यदि मनुष्य स्वयं अपने आपको सुसंस्कृत बना ले तो उन बुराइयों की प्रतिक्रिया से बच सकता है ।** मोटर की कमानी-स्प्रिंग बढ़िया हो तो सड़क के खड्डे उसको बहुत दचके नहीं देते । कमानी के आधार पर वह उन खड्डों की प्रतिक्रिया को पचा जाती है । सज्जनता में भी ऐसी ही विशेषता है, वह दुर्जनों को नंगे रूप में प्रकट होने का अवसर बहुत कम ही आने देती है । गीली

लकड़ी का एक छोटा अंगारा जल नहीं पाता वरन् बुझ जाता है, दुष्टता भी सज्जनता के सामने जाकर हार जाती है । फिर सज्जनता में एक दूसरा गुण भी तो है कि कोई परेशानी आ ही जाए तो बिना संतुलन खोए, एक तुच्छ–सी बात मानकर उसे हँसते–खेलते सहन कर लिया जाता है ।

आत्मबल : आत्मबोध में सहायक :

मनुष्य का या सिद्ध पुरुषों का सबसे बड़ा चमत्कार है उनका–आत्मबल । यही उन्हें अपनी उस प्रसुप्त सामर्थ्य का बोध कराता है जिसके कारण वे कठिन से कठिन और प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थितियों में भी आदर्शों तथा दृढ़ सिद्धांतों पर टिके रहते हैं । यही चमत्कारी क्षमता सामान्य से राजकुमार सिद्धार्थ को गौतम बुद्ध, एक गड़रिए के बेटे को ईसा, साधारण से साधु को समर्थ रामदास, वासना में लिप्त कामुक व्यक्ति को तुलसीदास, एक पुजारी को रामकृष्ण परमहंस, एक डाकू को संत वाल्मीकि एवं एक अध्यापक को महायोगी अरविंद बनाती है । सामान्य परिस्थितियों से ऊपर उठकर महामानवों–देवपुरुषों की पंक्ति में जा बैठना क्या कम चमत्कार है ? लोगों ने तो बाजीगरी के करतबों को ही चमत्कार मान रखा है । वस्तुतः जिन्होंने आध्यात्मिक संपदा कमाई है, उन्हें इस तरह का चमत्कार प्रदर्शन करने की कभी जरूरत नहीं पड़ी । संपन्न व्यक्ति अपने धन को सुरक्षित रखते हैं, उसे हर किसी को बताते नहीं फिरते । यह तो दिखाने वाले का ओछापन और उत्सुक बाल–बुद्धि वालों का बचकानापन है जो इस भौंड़े प्रदर्शन को ही मुख्य मान बैठते हैं । जीवन की गरिमा को जिन्होंने समझा है उन्होंने दत्तचित्त हो उसकी साधना की है व प्रत्युत्तर में अनगिनत बहुमूल्य मणिमुक्तक पाए हैं । इससे वे स्वयं लाभान्वित हुए व अनेकों को लाभ पहुँचाया ।

प्रत्येक व्यक्ति महान् बन सकता है :

प्रत्येक व्यक्ति में महान बनने की संभावना बीज रूप से विद्यमान है । प्रशिक्षण और अभ्यास द्वारा उनका विकास किया जा सकता है । मदारी, रीछ, बंदरों को भी, जिनमें न सूझ–बूझ होती है और न बौद्धिक क्षमता, प्रशिक्षण देकर मनुष्यों जैसा व्यवहार करना सिखा देते हैं, तो क्या कारण है कि बौद्धिक क्षमता, सहयोग की सुविधा और अन्यान्य विशेषताएँ होते हुए भी मनुष्य दीन–हीन ही बना रहे ? यदि प्रयत्न किया जाए तो प्रत्येक व्यक्ति महामानवों का सा व्यक्तित्व बना सकता है । आत्मदर्शन को ईश्वर प्राप्ति के समतुल्य बताया गया है । इस रहस्यवाद को यदि सरल शब्दों में समझना हो तो बोलचाल की भाषा में इतना कह देने से भी काम चल सकता है कि "अपनी अर्थात् जीवन की गरिमा को समझा जाए और उस कल्पवृक्ष की निष्ठापूर्वक साधना की जाए ।" इतना समझा, स्वीकारा जा सके तो समझना चाहिए कि आत्मविज्ञान की वर्णमाला याद हो गई अन्यथा बिना अक्षर ज्ञान सीखे स्नातक बनने का दिवा स्वप्न देखने वालों को रोक कौन सकता है ? इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि **हम मानवी गरिमा को समझें और उसके प्रति श्रद्धान्वित हों** और महत्वपूर्ण बात यह है कि **उसे अपनाने के लिए संकल्पवान निष्ठा परिपक्व करें** । इन दो तथ्यों पर जितनी गंभीरतापूर्वक विचार किया जाएगा, उतना ही यह रहस्य प्रकट होता जाएगा कि प्रगति और दुर्गति का कारण क्या है ? अंतरंग की निकृष्टता को लोगों की आँखों से छिपा भी रखा जा सकता है, पर उस सड़ाँध से वह लपकन तो उठती ही रहेगी जो मवाद भरे फोड़े के भीतर से उठती है और खाने–सोने से लेकर सामाजिक परिकर और परिवार को हैरान करती है । कुसंस्कारिता की गहरी जड़ें अवांछनीय आकांक्षाओं और अनैतिक मान्यताओं में होती है । इसके जब अंकुर निकलते हैं, तो

आलस्य से लेकर दुर्व्यसन तक के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं और परिपक्व भी होते हैं, तो भ्रष्टता और दुष्टता के रूप में अपनी उद्दंडता का परिचय देते हैं । इन्हें रोका उखाड़ा कैसे जाए ? कैसे आत्मा पर छाए इन मलिनता के आवरणों से मुक्ति पाई जाए ? इसके लिए किसी वरदान अनुदान पर अवलंबित नहीं रहना चाहिए वरन् उस आधार को अपनाना चाहिए, जिसके बन जाने पर अनुदान बिना याचना के ही मिलने लगते हैं । नदियाँ गहरी होती हैं, फलतः उनमें पहाड़ों से लेकर खेतों तक का पानी अपने आप दौड़ते–दौड़ते पहुँचता है । सही रास्ता यही है, सही नीति यही है ।

आप ईश्वर का पुत्र होना स्वीकार कर लीजिए :

आप हमारी बात मानिए, अपने को ईश्वर का पुत्र होना स्वीकार कर लीजिए । बस, आप उन तमाम संपदाओं के स्वामी बन जाएँगे, जो आपके पिता में हैं । पुत्र में पिता के सब गुण आने अवश्यंभावी हैं । ईश्वर के पुत्र होने के नाते आप भी असीम शक्तियों और दैवी संपदाओं के मालिक बन जाएँगे । ईश्वर के अटूट भंडार के अधिकारी हो जाएँगे । इमली के वृक्ष से एक छोटी पत्ती तोड़िए और इसे जिह्वा पर रखिए और दाँतों से चबाइए । आप उसे खट्टी पाएँगे । इमली के फल को चखिए वह और खट्टा है । इमली का फूल, छाल, बीज, पत्ती, कोंपलें सभी में खटाई का गुण थोड़े–बहुत अंतर से समान रूप में विद्यमान है । सर्वत्र वही गुण अदृश्य रूप से रमा हुआ है । एक नीम से पत्ती तोड़कर चखिए, कड़वी है । उसकी निबोरी, उसकी छाल सभी कड़वी हैं । फल कड़वे हैं । उसकी गंध तक से कड़वापन भासित होता है । नीम का बीज कड़वा, उसका पौधा कड़वा, फल कड़वा । जैसा बीज होता है, वैसा ही फल होता है । बीज से फल और फल से उसी प्रकार का बीज, वैसी ही सृष्टि, यही संसार के प्राणी–जगत् का क्रम है । आप जंतु विज्ञान विशारदों

से बातचीत कीजिए । वे आपको बतलाएँगे कि जो गुण किसी भी जीव के पिता में होते हैं, वही उसकी संतान में पनपते और फलित होते हैं । दुधारू गाय की बछिया, माँ से भी अधिक दूध देती है। नस्ल–सुधारने वाले केवल ऊँची नस्लों वाली गायों की ही रक्षा करते हैं । उन्हीं के बच्चों को ध्यान से पालते हैं । पिता–माता के गुण उनके बच्चों में पूरी तेजी से उभर कर आते हैं । खूब फलते–फूलते हैं । फिर यदि आप अपने को ईश्वर का पुत्र होना स्वीकार कर लेते हैं, तो एक ऐसे शक्ति–स्रोत से अपना संबंध स्थापित कर लेते हैं, जो अटूट है । संसार के सर्वोच्च गुणों का आदि स्थान है । हर प्रतिष्ठित कलाकार, मूर्तिकार अपनी कलाकृतियों में गरिमा का ध्यान रखता है । यदि वह भौंड़ी या भद्दी होती है, तो उस कृति का ही तिरस्कार, उपहास नहीं होता वरन् उसके सृजेता, कलाकार का भी गौरव गिरता है । मनुष्य ईश्वर की सर्वोत्तम कृति है । इसे बनाने–तराशने में उसने अपनी कलाकारिता को चरम सीमा पर पहुँचा दिया है । शरीर के एक–एक कलपुर्जे की रचना और कार्यशैली पर विचार करते हैं तो विदित होता है कि सारे वैज्ञानिक एक साथ बैठ जाएँ तो भी किसी एक अकेले अवयव की सही प्रतिकृति नहीं बना सकते । मानवी बुद्धि को एक क्यारी में उगे पुष्पों की फसल कह सकते हैं । शारीरिक और बौद्धिक क्षमता के अतिरिक्त एक भावना क्षेत्र भी इस ईश्वरीय कृति की विशेषता है, जो मानवी अंतःकरण में उत्कृष्टता के सारतत्व के रूप में विद्यमान है । ईश्वर का अरमान तो पूरा हो गया । अब मनुष्य का कर्त्तव्य आरंभ होता है कि उस कर्त्तव्य को कलुषित और कलंकित न करें । स्रष्टा की गरिमा को गिरने न दें और उन अरमानों को चोट न पहुँचाएँ जिन्हें लेकर स्रष्टा ने इतनी तीव्र आकांक्षा की और सृजन का कष्ट उठाया । मानवी संभावनाएँ असीम हैं । मानव गया–गुजरा उस स्थिति में है, जब वह अपनी सामर्थ्य को

पहचानने और उसका उपयोग करने में उपेक्षा बरते । वह महान और असाधारण उस स्थिति में है जब वह अपनी गरिमा को समझे और असीम क्षमता पर विश्वास रखे । जितना असीम यह परमात्मा है, उतना ही महान् उसका पुत्र है । महर्षि व्यास महाभारत में कहते हैं–"मैं एक रहस्य की बात बताता हूँ कि इस संसार में मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं ।"

क्या किया जाए ? :

इसके लिए व्यवहारतः क्या करना होगा ? इसका उत्तर एक ही है । अपनी संचित कुसंस्कारिता से पीछा छुड़ाया जाए और लोक प्रवाह में बहने से इंकार कर दिया जाए । संकल्प एक ही रहे कि प्रवाह में बहना नहीं है, मात्र औचित्य ही स्वीकारना है । अनौचित्य की प्रेरणा भले ही स्वजन संबंधियों द्वारा दी जा रही हो अथवा समूचे वातावरण से वैसा प्रोत्साहन मिल रहा हो, अपना निर्णय स्वतंत्र एवं आदर्शवादी होना चाहिए । अपने से, अपनी आदतों से, अपने को प्रभावित करने वाले व्यक्तियों से, वातावरण से लड़ पड़ने का साहस उभरे तो कृष्ण का जागृत अर्जुन बनने का अवसर मिले । कर्त्तव्य कहता है कि पुराने ढर्रे को तोड़ो, उससे लड़ो और अवांछनीय को हटाओ, पर अर्जुन का मोह पुराने, चिर अभ्यस्त, चिर परिचित ढर्रे को छोड़ने–तोड़ने का साहस नहीं कर पाता और सोचता है जैसा चल रहा है, वैसा ही चलने दिया जाए । कर्त्तव्यपालन यदि इतना झंझटों से भरा है, आत्म जागरण का यदि इतना मँहगा मूल्य चुकाना पड़ता है तो उसे छोड़ ही क्यों न दिया जाए ? ऐसे महाभारत में जब मोहग्रस्त अर्जुन गांडीव नीचे रखकर बैठ जाता है, तब भगवान अनेक तर्क, तथ्यों के माध्यम से उसे समझाते हैं । वे कहते हैं "चिर परिचित गतिविधियाँ ढर्रे में रहने के कारण स्वजनों–संबंधियों की तरह अति निकटवर्ती, प्रिय बन गई हैं । इन्हें हटाया जाना आवश्यक है । इन्हीं ने आत्मगरिमा से अर्जुन

रूपी मनुष्य को विस्मृत बना दिया है । साधना समर में अपने ही अज्ञान असुर से ही तो लड़ना पड़ता है । कर्त्तव्य, धर्म व संघर्ष साथ–साथ जुड़े हैं । अतएव हे अर्जुन ! चिरपरिचितों का, चिर सहचरों का मोह छोड़ और वह कर जिससे श्रेयस् की साधना संपन्न होती है ।'' आत्मगरिमा को भूले हर व्यक्ति को अपने बल संचय की साधना करते समय अर्जुन की तरह ही अग्नि–परीक्षा में से गुजरना होता है । विवेक भूमिका में जागृत आत्मा यदि अपने कषाय–कल्मषों को ही न मिटा सकी तो उसके जागरण का आखिर प्रयोजन ही क्या रहा ? जिसके पास आत्म भूमिका में जाग्रत हुआ जीवनमुक्त नर–नारायण है, उसके लिए संसार में कुछ भी असंभव नहीं है । अध्यात्म के उच्चस्तरीय सोपानों पर चढ़ने व ऋद्धि–सिद्धियाँ हस्तगत करने के लिए आत्म–जाग्रति ही प्रथम शर्त है ।

दूसरों के साथ वह व्यवहार न करें,
जो हमें अपने लिए पसंद नहीं ।

यूनिट-२ अपनी महानता में विश्वास रखें

आत्मश्रद्धा की आवश्यकता :

मनुष्य ईश्वर की महानतम कृति है । इस तथ्य की अज्ञानता ही पतन–पराभव का कारण है । यदि मनुष्य अपनी महानता को पहचान ले तो उसका विकासमार्ग निर्विघ्न हो जाता है । मनुष्य होने का अर्थ है कि हम शक्ति के भंडार हैं । **अपने भीतर की विलक्षण क्षमता के प्रति श्रद्धा और अपनी सफलता पर विश्वास जितना प्रगाढ़ होगा उतनी ही सफलता के हम अधिकारी होंगे** । अगर प्रत्येक परिस्थिति में हम विजय प्राप्त करने का भरोसा न रखें तो हम अपने को मनुष्य कहने के अधिकारी नहीं हैं । हम में सदैव इस प्रकार की आत्म–श्रद्धा रहनी चाहिए कि हम महान हैं और हमारे भीतर अद्भुत शक्तियाँ विद्यमान हैं । इस प्रकार के आंतरिक विश्वास से महत्त्वपूर्ण कार्यों के करने की जितनी हिम्मत प्राप्त होगी, उतनी किसी दूसरी बात से प्राप्त नहीं हो सकती ।

जिनमें ऊँचे दर्जे की आत्मश्रद्धा थी वे अपने आरंभ किए कार्यों को पूरा करने के संबंध में अडिग विश्वास रखते थे । ऐसे ही स्त्री–पुरुषों ने मानव–संस्कृति में चमत्कार करके दिखाए हैं ।

कितने ही मनुष्यों ने जिस वस्तु के ऊपर उन्हें श्रद्धा थी, अन्य लोगों ने उसे काल्पनिक अथवा तुच्छ बतलाया था । उस कार्य को सिद्ध करने में, उस वस्तु को मूर्त रूप देने में अपूर्व सहनशक्ति का परिचय देते हुए निरंतर संलग्न रहे भले ही इसके परिणामस्वरूप मनुष्य जाति को ऐसे साधन प्राप्त करा सके कि जिनसे प्रगति में महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त हुई । यदि वे ऐसा न करते तो आज हम कई शताब्दी पुरानी अवस्था में ही

पड़े दिखाई देते । ऐसा कोई नियम नहीं है कि आप सफलता की आशा रखे बिना, अभिलाषा किए बिना, उसके लिए दृढ़ प्रयत्न किए बिना ही सफलता प्राप्त कर सकें । **प्रत्येक ऊँची सफलता के लिए पहले मजबूत, दृढ़ आत्मश्रद्धा का होना अनिवार्य है । इसके बिना सफलता कभी मिल नहीं सकती ।** भगवान के इस नियमबद्ध और श्रेष्ठ व्यवस्थायुक्त जगत में "दैवयोग" के लिए कोई स्थान नहीं है । प्रत्येक कार्य के लिए सामान्य नहीं पूर्ण कारण होना चाहिए, परिणाम जितना बड़ा हो कारण भी उसी के मुकाबले में बड़ा होना आवश्यक है । नदी का पानी कभी उसके मूल निकास स्थान की अपेक्षा ऊँचा नहीं चढ़ सकता । महान् सफलता प्राप्त करनी हो तो महान आत्मश्रद्धा भी रखनी चाहिए और उसी प्रकार सफलतापूर्वक कार्य करना चाहिए । आपकी शक्ति चाहे जितनी बड़ी हो, आपकी बुद्धि चाहे जैसी विशाल हो, आपकी शिक्षा चाहे जैसी उत्तम हो, तो भी आप अपने कार्य में उतनी ही सिद्धि प्राप्त कर सकेंगे जितनी कि आपकी आत्मश्रद्धा होगी । जो मनुष्य कार्य सिद्धि करने की श्रद्धा रखता है, वही कार्य पूरा कर सकता है और जिसमें ऐसा विश्वास नहीं है वह कार्य को सिद्ध नहीं कर सकता । यह एक पक्का और निर्विवाद नियम है ।

आलोचनाओं से विचलित न हों :

आपके विषय में, आपकी योजनाओं के विषय में, आपके उद्देश्यों के विषय में अन्य लोग जो कुछ विचार करते हैं उस पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है । अगर वे आपको कल्पनाओं के पीछे दौड़ने वाला, उन्मत्त अथवा स्वप्न देखने वाला कहें तो उसकी परवाह मत करिए । **आप अपने व्यक्तित्व पर श्रद्धा बनाए रहें ।** अगर आप आत्म–श्रद्धा खो देते हैं, तो आपके व्यक्तित्व को हार माननी पड़ेगी । किसी मनुष्य के कहने से अथवा किसी आपत्ति के आने से अपने आत्मविश्वास को डगमगाने

मत दें । **कदाचित् आप अपनी संपत्ति, अपने स्वास्थ्य, अपने यश और अन्य लोगों के सम्मान को खो बैठें, पर जब तक आप अपने ऊपर श्रद्धा कायम रखेंगे तब तक आपके लिए आशा है। यदि आत्म–श्रद्धा को कायम रखेंगे और आगे बढ़ते रहेंगे तो जल्दी या देर में संसार आपको रास्ता देगा ही।** एक अवसर पर एक फौजी सिपाही नैपोलियन के पास इतनी शीघ्रता से एक संदेश लाया कि उसने पत्र दिया उससे पहले ही उसका घोड़ा मरकर गिर गया । नैपोलियन ने तुरंत उस संदेश का उत्तर लिखाया और सिपाही से कहा कि अब मेरे घोड़े पर बैठकर जितनी जल्दी हो सके इस उत्तर को अपने अफसर के पास पहुँचाओ । उस सिपाही ने उससे बढ़िया साज वाले दर्शनीय प्राणी की तरफ देखा और कहा–''सेनापति साहब ! एक साधारण सिपाही के लिए ऐसा सुशोभित और भव्य घोड़ा शोभा नहीं दे सकता ।'' नैपोलियन ने कहा–''एक फ्रांसीसी सैनिक को कितनी भी श्रेष्ठ और कैसी भी भव्य वस्तु का उपयोग करने का अधिकार है ।''

<u>हीन भावना विकास के लिए घातक :</u>

इस गरीब फ्रांसीसी सैनिक की तरह संसार के अधिकांश मनुष्य यह मानते रहते हैं कि भाग्यदेवता के लाड़ले पुत्रों को जो दर्शनीय और उत्तम पदार्थ मिले हुए हैं, हम उनके अधिकारी नहीं हो सकते । अपने व्यक्तित्व को छोटा समझने अथवा अपने को हीन समझने की यह मनोवृत्ति उनको कैसा निर्बल बनाती है इससे वे अपने व्यक्तित्व पर पूरा भरोसा नहीं रखते, उससे पूरी आशा नहीं करते, पूरी माँग उपस्थित नहीं करते । अगर तुम एक बौने का ही अभिनय करते रहे तो तुम भीमसेन कभी नहीं बन सकते । प्रकृति का कोई नियम ऐसा नहीं है, जिसके आधार पर बौनापन का विचार करते रहने से भीमसेन की उत्पत्ति हो सके । जैसा आदर्श होता है वैसी ही प्रतिभा भी बनती है । मन

में जैसा बनने का विचार होता है, वही मनुष्य का आदर्श होता है । बहुत से लोगों को आरंभ से यही सिखाया गया है कि संसार की उत्तमोत्तम वस्तुएँ उनके लिए नहीं पैदा की गई हैं । इसलिए उन लोगों के दिमाग में बचपन से ही यह बात बैठ गई है कि वे घटिया श्रेणी के हैं । इसका परिणाम यह होता है कि अनेक स्त्री–पुरुष जो बड़े काम कर सकने की शक्ति रखते हैं छोटे–छोटे मामूली कामों में ही जीवन बिता देते हैं । वे अपने व्यक्तित्त्व से न तो पूरी आशा रखते हैं और न हृदय से उतना उद्योग करते हैं । हीनता की भावना के फलस्वरूप उनका व्यक्तित्त्व शक्तिशाली होते हुए भी दबा हुआ रह जाता है ।

हम लोग अपने महान् जन्मसिद्ध अधिकार को पूरी तरह नहीं समझ पाते और हम कितनी उन्नति करने के लिए उत्पन्न किए गए हैं, कितने अंशों में हम अपने स्वामी आप बन सकते हैं, इस बात को भी नहीं जानते । **अगर हम लोग चाहें तो अपने भाग्य पर पूरा अधिकार प्राप्त कर सकते हैं, जो–जो कार्य अन्य लोगों के लिए संभव है, उनको हम भी कर सकते हैं । हम जैसा बनना चाहें वैसा बन सकते हैं, यह बात भी अभी हमारी समझ में नहीं आई है ।** प्रसिद्ध विदुषी मेरी करेली ने लिखा है ''अगर हम मिट्टी के ढेले से अधिक उच्च बनने की इच्छा न रखते हों तो हम वास्तव में मिट्टी के ढेले ही बन जाएँगे और अधिक वीर तथा योग्य लोग हमारे ऊपर होकर निकल जाएँगे ।'' अगर आप यही विचार किया करेंगे कि आप दूसरों के समान श्रेष्ठ नहीं हैं, वरन् निर्बल तथा सत्त्वहीन प्राणी हैं तो आपका जीवन स्तर वास्तव में घटिया हो जाएगा और आपकी शक्ति कुंठित हो जाएगी ।

आत्म-श्रद्धा से वातावरण निर्माण :

हम अनेक बार किसी व्यक्ति के बारे में यह सुना करते हैं कि 'यह मनुष्य जिस कार्य को अपने हाथ में लेता है, यह जिस

वस्तु को स्पर्श करता है वह स्वर्ण बन जाती है ।' अपने चरित्रबल और बुद्धिमत्ता से अत्यंत प्रतिकूल संयोग में भी सफलता प्राप्त कर लेता है । श्रद्धा ही श्रद्धा को उत्पन्न करती है और बल प्रदान करती है । आत्म–श्रद्धा संपन्न, विजय के विश्वासी व्यक्ति के विधेयात्मक विचार उसके चारों ओर के वातावरण में उसी प्रकार के विचारों का सृजन करते हैं । परिणाम यह होता है कि मनुष्य के अपने विचारों से निर्मित वातावरण उसी में श्रद्धा–विश्वास को और अधिक सघन बना देते हैं । जो मनुष्य विजय प्राप्त करने वाला होता है, वह चारों तरफ विश्वास का प्रयास करता है और जिस काम को उसने उठाया है उसको पूर्ण करने की शक्ति उसमें है, ऐसी श्रद्धा अन्य लोगों में भी उत्पन्न कर देता है । जैसे–जैसे समय व्यतीत होता है उसे अपनी विचार शक्ति का ही नहीं वरन् अपने से परिचय रखने वालों की विचार शक्ति का भी सहारा मिलता है । उसके मित्र तथा परिचित व्यक्ति बारंबार यह कहकर कि वह सफलता प्राप्त करने में समर्थ है, उसे विजयी बनाने में सहायक होते हैं । उसे जितनी सफलताएँ मिलती जाती हैं, उसकी गंभीरता, विश्वास, श्रद्धा, शक्ति में वैसे–वैसे ही वृद्धि होती जाती है । अपने व्यक्तित्व के विषय में आप स्वयं जो विचार रखते हैं, उसी से आपकी शक्तियों का ठीक–ठीक पता लग सकता है । **अगर आपकी बुद्धि विशाल नहीं है, तो आप में साहस कर सकने का गुण नहीं है, यदि दृढ़ आत्मश्रद्धा नहीं है तो आप कभी महत्कार्य नहीं कर सकते** । महत्त्वाकांक्षा का तात्पर्य मनुष्य के उच्च आदर्श और उन्नत उद्देश्यों से होता है । इन्हीं के द्वारा कार्य सिद्ध करने वाली शक्ति का जन्म होता है।

<u>मंद विचार, शिथिल प्रयत्न कार्य-सिद्धि में बाधक :</u>

किसी भी कार्य की स्थिति पहले विचार रूप में ही होती है । उसके बिना वह कभी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । इसलिए हम

जो भी कार्य करना चाहते हों, उसके लिए दृढ़ विचार करना ही मुख्य और आरंभिक कदम है । मंदतापूर्वक उत्पन्न होने वाला विचार मंद परिणाम ही उत्पन्न करता है । विचार मजबूत ही होना चाहिए अन्यथा जैसी चाहिए वैसी कार्यसिद्धि नहीं होगी । संसार के समस्त महान् कार्यों का मूल ऐसी मजबूत इच्छा और कल्पना में रहता है, जो निराशा और निरुत्साह की परिस्थितियाँ आ जाने पर भी टिकी रहती हैं और उसके लिए मनुष्य बलिदान करने को तैयार रहता है । इसीलिए कहा गया है कि "तुम्हारी श्रद्धा के अनुरूप ही तुमको सफलता प्राप्त होगी ।" हम जीवन द्वारा कितना लाभ प्राप्त कर सकेंगे इसका पता हमारी श्रद्धा से ही ठीक–ठीक लग सकता है । थोड़ी श्रद्धा वाले मनुष्य को थोड़ा मिलता है और अधिक श्रद्धा वाले को अधिक मिलता है । अगर हम स्वावलंबी मनुष्यों की सफलताओं के विषय में जाँच करेंगे तो हमें यही विदित होगा कि उन्होंने जब किसी विषय में उद्योग आरंभ किया था, तब वे अपने उठाए हुए काम के विषय में दृढ़ और अचल श्रद्धा रखते थे । अपने ध्येय में उनका मन इतनी मजबूती से संलग्न था कि अपने व्यक्तित्व और शक्ति में कम विश्वास रखने वाले मनुष्यों के मार्ग में जो बाधाएँ आती हैं वे उनके सम्मुख होने से पहले ही हट गई थीं, संसार ने उनके लिए रास्ता दिया था । भाग्यदेवी मानो उन पर परम प्रसन्न थीं । इस प्रकार उन्होंने जिस किसी रोजगार में हाथ डाला उसी में असाधारण सफलता प्राप्त की थी । हम उनके संबंध में तरह–तरह के अनुमान करते रहते हैं, परंतु वास्तव में उनको जो सफलता प्राप्त हुई उसका कारण यही था कि वे अपनी आशा के संबंध में निरंतर सृजनात्मक और निश्चयात्मक विचार करते रहते थे । हम सफलता प्राप्त कर सकेंगे यही हमको मानना चाहिए । इतना ही नहीं इस पर पूर्ण अंतःकरण से विश्वास रखना चाहिएं ।

शंकालु मन शक्तिहीन :

शिथिल महत्त्वाकांक्षा और ढीले प्रयत्न से कभी कोई कार्य सिद्ध नहीं होता । हमारी श्रद्धा में, हमारे निश्चय में, हमारे उद्योग में बल होना चाहिए । हमको कार्य सिद्धि करने वाली शक्ति के साथ ही किसी विषय का निश्चय करना चाहिए । बहुत से लोगों का जीवन अत्यंत संकुचित और दरिद्री होता है, उसका कारण यही है कि उनमें आत्म–श्रद्धा और कार्य करने की श्रद्धा नहीं होती । बहुत से लोग इस तरह फूँक–फूँक कर कदम रखते हैं और किसी प्रकार का साहस करने में इतना डरते रहते हैं कि उनका आगे बढ़ सकना कठिन ही होता है ।

आत्म–श्रद्धा का अर्थ अहंकार नहीं वरन् ज्ञान समझना चाहिए । अपने आरंभ किए हुए काम को पूरा करने की शक्ति हम में मौजूद है, ऐसा प्रतीत होने से यह ज्ञान उत्पन्न होता है । हमारी समस्त उन्नति और संस्कृति इसी आत्म–श्रद्धा पर आधारित है । इसके विपरीत **जिन मनुष्यों के मन में सदा शंका घुसी रहती है और जो हानि–लाभ की गिनती करने में ही लगे रहते हैं, उनमें आगे बढ़ने की शक्ति नहीं हो सकती ।** यदि वे कभी कार्यारंभ भी करते हैं, तो डगमगाते हुए चलते हैं, उनके कार्य में बल नहीं होता, उनके उद्योग में निश्चय का भाव नहीं पाया जाता । शंका और भय, डरपोकपन और कायरता हमको घटिया और मामूली दशा में रखते हैं । जब भी हम ऊँचे दर्जे के काम करने की शक्ति रखते हैं, तब भी हम इन शंका आदि दोषों के कारण तुच्छ कार्य करते रहते हैं ।

क्या किया जाए ? :

कार्य सिद्ध करने की इच्छा रखने वाले मनुष्य को प्रचंड बल से कार्य आरंभ करना चाहिए और सदा सामने आने वाले विघ्नों को हटाने की शक्ति रखनी चाहिए । यह उद्देश्य डगमगाते शंकाशील, अस्थिर मन से सिद्ध नहीं हो सकता । जो कार्य

अन्य लोगों को असंभव जान पड़ता है, उसे ऐसा दृढ़ निश्चय वाला व्यक्ति कर सकने में पूरा विश्वास रखता है । इससे प्रकट होता है कि उसमें कोई ऐसी शक्ति है, जो उसके आरंभ किए हुए कार्य को सिद्ध करने का बल देती है । श्रद्धा ही मनुष्य को अनंत के साथ संयुक्त कर देती है और जब मनुष्य परमात्मा के इतने निकट रहता है कि उसे सदा उसके उपस्थित होने का अनुभव हुआ करता है, तो वह आवश्यकता पड़ने पर असामान्य शक्ति दिखाला सकता है । आत्म–श्रद्धा से मनुष्य की शक्ति में जितनी वृद्धि होती है, उतनी और किसी वस्तु से नहीं होती । आत्म–श्रद्धा से एक ही काम जानने वाला सफलता प्राप्त कर लेता है, जब कि उसके बिना दस काम जानने वाला भी निष्फल सिद्ध होता है । अतः आवश्यक है कि हम मनुष्य होने के कारण अपने भीतर की विलक्षण क्षमता के प्रति श्रद्धा रखते हुए जिस कार्य को प्रारंभ करें, पूरी शक्ति लगाकर ही करें ।

प्रगति का प्रभाव उसी दिन उदय होगा, जिस दिन यह भलीभाँति अनुभव कर लिया जाएगा कि दुर्दशा से छुटकारा पाने के लिए दुर्बुद्धि का परित्याग आवश्यक है ।

जीवन जीने की कला सीखें

कठिनाइयों से मानवीय बुद्धि का विकास :

यदि मनुष्य में आत्मश्रद्धा हो तो उसे सफलता प्राप्त करने में सुगमता होती है, किंतु आत्मश्रद्धा के साथ-साथ मनुष्य को जीवन में सफल होने के लिए कुछ अन्य विशेषताओं की आवश्यकता भी होती है । किसी देश के राजा को अपनी प्रजा के सुख-दुख की, राजकोष की, शत्रुओं से सुरक्षा की, उद्दंड अपराधियों के नियंत्रण की, मत्रिमंडल के संगठन आदि की अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है और प्रत्येक गुत्थी को सही तरीके से सुलझाना पड़ता है । कोई मूर्ख राजा उचित हल न खोज सके और उलटी सीधी गतिविधियाँ अपनाए तो प्रजा में अशांति, शासन में असंतोष तथा व्यवस्था में गतिरोध उत्पन्न हो जाएगा । ऐसा राजा स्वयं भी नष्ट होता है और अपने राज्य भर में विपत्ति की विभीषिकाएँ खड़ी कर देता है । जीवन को किसी बड़े राजकाज का संचालन करने से ही उपमा दी जा सकती है । राज्य बड़ा होता है जीवन छोटा, पर गुत्थियाँ दोनों की एक सी रहती हैं । हाथी बड़ा है मच्छर छोटा पर दोनों को ही अपने-अपने निर्वाह की बात समान रूप से सोचनी पड़ती है और उनका हल खोजने के लिए समान रूप से दौड़-धूप करनी होती है । जीवन के बाह्य उत्तरदायित्व छोटे हों या बड़े हर मनुष्य को एक नियत परिधि में अपनी कठिनाइयों का हल आप खोजना पड़ता है और अपना रास्ता स्वयं साफ करना होता है । इस संसार में एक भी व्यक्ति ऐसा पैदा नहीं हुआ जिसे पूर्ण निश्चिंतता के साथ सरल और शांतिपूर्ण जीवन यापन करने की सुविधा मिली हो । यदि ऐसा होता तो मानवीय बुद्धि का विकास ही संभव न होता । चाकू की धार तभी तेज होती है, जब पत्थर

पर उसे घिसा जाता है, निष्क्रिय पड़े रहने पर तो उस पर जंग ही चढ़ती है । कठिनाइयों और समस्याओं से रहित जीवन निर्जीव और आनंद रहित ही बनेगा, उसमें जड़ता, अनुत्साह और अवसाद ही घिरा रहेगा । घिसने और टकराने से शक्ति उत्पन्न होती है, यह वैज्ञानिक नियम है । ईश्वर अपने प्रिय पुत्र जीव को शक्तिवान, प्रगतिशील, विकासोन्मुख, चतुर, साहसी और पराक्रमी बनाना चाहता है, इसीलिए उसने समस्याओं और कठिनाइयों का एक बड़ा अंबार प्रत्येक मनुष्य के सामने खड़ा किया हुआ है ।

बिल्ली अपने छोटे बच्चों को चूहे का शिकार करना स्वयं सिखाती है । पकड़े हुए घायल चूहे को वह बच्चों के सामने छोड़ती है, बच्चे उस पर आक्रमण करते हैं, मारते और खाते हैं । इस प्रकार उन्हें शिकार करने का अनुभव हो जाता है । परमात्मा बिल्ली की तरह मनुष्य स्वरूप बच्चों को उलझी समस्याओं और विवेक की शिक्षा का साधन प्रस्तुत करता है । यह घायल चूहे तो अधमरे पहले से ही थे । चूहे मारने में कोई कठिनाई नहीं है । उन्हें तो बिल्ली स्वयं ही मार कर दे सकती थी, पर बच्चों को शिकार खेलना सिखाना तो बड़ा प्रश्न था । इसके बिना बच्चे अपने पैरों पर खड़े ही न हो पाते । ईश्वर आसानी से हमारी समस्याएँ हल कर सकता है, वह करता भी है, पर हमें भी तो अपनी चेतना का विकास करना सीखना है । इसलिए अधमरे चूहे की तरह गुत्थियाँ भी सामने आती ही रहती हैं । एक के बाद दूसरी का ताँता लगा ही रहता है ।

समस्याओं से पलायन उचित नहीं :

यह सोचना उचित नहीं कि किसी प्रकार हमें समस्याओं से छुटकारा मिल जाएगा । उलझनों से रहित जीवन की व्यवस्था इस सृष्टि में नहीं हुई है । इसलिए उससे बच्चे रहने की

कल्पना किसी को भी नहीं करनी चाहिए वरन् यह सोचना चाहिए कि आए दिन उपस्थित होने वाली समस्याओं के सुलझाने का सही तरीका क्या है, उसे जाने । **पैरों में जूते पहन लेने पर रास्ते में बिखरे हुए काँटों से सहज ही बचाव हो जाता है ।** अपने पास उलझनों को सुलझाने का यदि सही दृष्टिकोण मौजूद हो तो कठिन और भयंकर दीखने वाली समस्याएँ भी बात की बात में सुलझती चली जाती हैं ।

आमतौर से यह सोचा जाता है कि जैसा हम सोचते हैं, जैसा हम चाहते हैं, उसी के अनुरूप परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाएँ, उसी के अनुरूप दूसरे व्यक्ति आचरण करने लगें । अपनी हर सही गलत आकांक्षाओं को हम पूर्ण हुआ देखना चाहते हैं । मानो सामने जो कुछ है वह सब गीली/मिट्टी मात्र है । उसका जो कुछ बनाना चाहते हैं वही तुरंत बनकर तैयार हो जाएगा और जैसे चलाना चाहते हैं, वैसे ही चलने लगेगा । यह आकांक्षा भी इसी प्रकार असफल रहने वाली है जैसी कठिनाइयों से पूर्ण सुरक्षित रहने की कामना । जिस प्रकार कठिनाइयों से निपटने के लिए कटिबद्ध रहना आवश्यक है, उसी प्रकार यह भी आवश्यक है कि यह भली प्रकार जान लिया जाए कि परिस्थितियाँ अपने अनुकूल बनें यह सोचते रहने की अपेक्षा यह सोचना उचित है कि हम परिस्थितियों के अनुकूल ही अपना स्वभाव बदल लें और जैसा हम चाहते हैं वैसे ही चलें, यह सोचने की अपेक्षा यह सोचना अधिक युक्ति संगत है कि इस बहुरंगी दुनिया से मिल कर चलने और जैसा कुछ यहाँ है उससे काम चलाने के लायक लचक अपने अंदर उत्पन्न करें । प्रतिकूल को अनुकूल बनाने के लिए अपने भीतर कुछ विशेषताएँ होनी चाहिए । लुहार अपनी भट्टी में लोहे के टूटे-फूटे टुकड़ों को डालकर नरम करता है और जब वे नरम हो जाते हैं तब उनकी मनचाही आकार-प्रकार की वस्तु बना लेता

है । यदि बिना नरम किए वह उन्हें परिवर्तित करना चाहे तो कर सकेगा ?

सफलता के दो सूत्र :

जिंदगी जीने की कला में प्रधानतया दो ही शिक्षण होते हैं । दूसरे की प्रतिकूलता को अनुकूलता में परिवर्तित करने की सामर्थ्य और उस प्रतिकूलता को हँसते–खेलते सहन कर लेने की क्षमता । ये दो गुण जिसमें होंगे वह जीवन संग्राम में कभी असफल नहीं होगा । दुख मनुष्य के हित के लिए परमात्मा के वरदान स्वरूप आते हैं । उनसे घबड़ाना, दुख के समय दुखी, चिंतित एवं परेशान होना मौत के समान है । दुखों से निराश हो जाने पर मानवीय विकास का पथ रुक जाता है । जीवन कठिनाइयों से भरी एक चुनौती है, जिसका धैर्य, साहस और निष्ठापूर्वक सामना करना ही चाहिए । कठिनाई के साथ साहस और पुरुषार्थ भीआते हैं । अभी एक कठिनाई से छूटे नहीं कि दूसरी आ धमकी । स्वास्थ्य ठीक हुआ नहीं कि व्यापार में घाटा आ गया । कर्ज पूरा किए दो दिन ही हुए थे कि किसी परिजन की मृत्यु हो गई । पानी की लहरों के समान एक पर एक मुसीबतें दौड़ी चली आती हैं । ऐसे समय पर लोंगों के हाथ–पाँव ठंडे पड़ जाते हैं । बुद्धि काम नहीं देती । पाँव लड़खड़ा जाते हैं । आशंका होती है कि फिर कोई नई मुसीबत न खड़ी हो जाए, इस दुश्चिंता के मारे अधमरे हो जाते हैं । किंतु जो अटल प्रारब्ध है उससे भय क्यों ? आने वाली कठिनाई के प्रति कायरता कैसी ?

जीवन संग्राम में शूरवीरों की भाँति लड़ें :

जीवन एक संग्राम है । इसमें कायरों को भी लड़ना पड़ता है और शूरवीरों को भी । किसी के हाथ संगीन पकड़ते काँपते हैं तो कोई जान की बाजी लगाकर दुश्मन के साथ चार हाथ दिखाता है । कठिनाइयाँ, दुख, मुसीबतें ऐसे ही शत्रु हैं,

जिनसे हमें लड़ना ही पड़ेगा । इनसे पीछा छुड़ाना असंभव है । फिर इन्हें साहस के साथ क्यों न ललकारें ? क्यों न वीर योद्धाओं के समान इनसे जूझें ? जीवन संग्राम में वही विजयी होता है जो कठिनाइयों से रक्त की अंतिम बूँद तक, जीवन की अंतिम साँस तक लड़ता है । जीवन का श्रेय भी इसी में है कि मुसीबतों में घबड़ाए नहीं, उनके साथ संघर्ष करें ।

जो सोचते हैं वह कर क्यों नहीं पाते :

जीवन संग्राम में संघर्ष करते समय एक कठिनाई प्रायः आती है । हम जो सोचते हैं, वह कर नहीं पाते हैं, ऐसा हम प्रायः अनुभव करते हैं । कई बार मनुष्य अपने अनुचित कार्यों या आदतों के संबंध में दुखी भी होता है और सोचता है कि उन्हें छोड़ दूँ । अवांछनीय अभ्यासों की प्रतिक्रिया उसने देखी, सुनी भी होती है । परामर्श उपदेश भी उसी प्रकार के मिलते रहते हैं, जिनमें सुधरने–संभलने के लिए कहा जाता है । सुनने में वे परामर्श सारगर्भित भी लगते हैं, किंतु जब छोड़ने की बात आती है तो मन मुकर जाता है । अभ्यस्त ढर्रे को छोड़ने के लिए सहमत नहीं होता है । उपदेशों से प्रभावित हुए मन की वह सज्जनता समय आते ही बालू की तरह खिसक जाती है । पत्ते की तरह उड़ जाती है । टिकने की पृष्ठभूमि ही नहीं होती । जिस साहस संकल्प के सहारे आत्मसुधार बन पड़ता है, उसका अभाव रहने से बात बनती नहीं । स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहती है । नशेबाजों में यही प्रक्रिया आए दिन चरितार्थ होते देखी जाती है । आर्थिक तंगी, बदनामी, शरीर की बर्बादी, परिवार में मनोमालिन्य जैसी हानियाँ प्रत्यक्ष रहती हैं । उनका अनुभव भी होता है, छोड़ने को जी भी करता है, पर जब तलब लगती है, तब सब सोचा–समझा बेकार हो जाता है । आदत उभर आती है और अपना काम करने लगती है । बार–बार सुधरने की बात सोचने और समय आने पर उसे न कर पाने से मनोबल टूटता

है । बार–बार टूटने पर वह इतना दुर्बल हो जाता है कि यह विश्वास ही नहीं जमता कि उसका सुधार हो सकता है । कल्पना करने लगते हैं कि जिंदगी ऐसे ही बीतेगी । आदतों से किसी भी प्रकार छुटकारा न मिल सकेगा ।

दुष्प्रवृत्तियों की प्रकृति अधोगामी :

ऐसा प्रायः दुष्प्रवृत्तियों के संबंध में ही होता है । अधोगमन में गुरुत्वाकर्षण की शक्ति काम करती है । ऊपर से नीचे की ओर खिसका देना सरल पड़ता है । पानी बहने लगे तो वह ढलान की ओर चल पड़ता है । उसकी प्रकृति पंरपरा अधोगमन की है इसके लिए किसी को कुछ विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता । आसमान पर छाए बादल बोझिल होते हैं, ऊपर से नीचे उतर आते हैं, पानी बरसाते हैं । वह बरसा हुआ पानी ढलान तलाशता है और अवरोधों को तोड़ते–लाँघते वह बरसाती नालों में जा मिलता है । वे नाले नदियों में पहुँचते हैं और अंत में उस समुद्र में जा मिलते हैं जो समतल धरती की तुलना में अधिक नीचा है । बादलों के पानी का बहाव–प्रयास तब रुकता है, जब वह ढलान के अंतिम छोर पर जा पहुँचता है । जब आगे और अधिक गिरने की गुंजाइश नहीं रहती, तभी वहीं रुकता है । यह रुकना भी ऐच्छिक नहीं होता वरन् विवशता ही वैसा करा लेती है । बुरी आदतों में फँसा हुआ व्यक्ति भी यही अनुभव करता है कि उसे किसी अदृश्य शक्ति ने अपने चंगुल में फँसा लिया है और उसे कोई बलात् कहीं घसीटे लिए जा रहा है । किसी ऐसे स्थान पर जहाँ जाने के लिए उसका विवेक अनुमति नहीं देता है ।

ऊँचा उठने में अड़चनें :

ऊँचा उठने के संबंध में तो और भी अधिक अड़चनें हैं । महापुरुषों के कुछ अपने गुण, कर्म और स्वभाव ही ऐसे होते हैं, जो महत्वपूर्ण लोकोपयोगी कार्यों में लगते हैं, अवरोधों से

जूझते हुए लक्ष्य तक पहुँचने का साहस प्रदान करते हैं । उन्हें अनुकरणीय और अभिनंदनीय माना जाता है । उनकी उपलब्धियों, प्रशंसा, प्रतिष्ठा को देखकर अनेकों का मन चलता है लेकिन महानता के राजमार्ग पर कदम बढ़ाते हुए चल सकना कहाँ संभव होता है, सोचते, मन मारते ही जिंदगी बीत जाती है । लगता है कोई दुर्भाग्य पीछे पड़ा है और वह हमारी कल्पना, इच्छा, योजना को कार्यान्वित नहीं होने देता, पर ऐसा कुछ नहीं है । कुटेवों से पीछा छुड़ाने और अपने आपको महानता से संपन्न करने में कोई विशेष अड़चन न होते हुए भी वह सफल नहीं हो पाता है ।

क्या किया जाए ? :

प्रायः मनुष्य सोचता है कि दुष्प्रवृत्तियों से बचना और सत्प्रवृत्तियाँ अपनाना ही उसके लिए श्रेयस्कर है फिर भी वह ऐसा कर नहीं पाता। दुष्प्रवृत्तियों का अधोगामी स्वभाव, मनुष्य का उनमें लिप्त रहने का एक लंबा अभ्यास तथा उसके कुमार्गगामी साथियों के उपहास का भय उसे इनके चंगुल से मुक्त नहीं होने देते । इसके लिए उसमें यह विश्वास जाग्रत करना आवश्यक है कि मनुष्य मूलतः स्वभाव से देवता है । आत्म–बोध, आत्म–श्रद्धा एवं आत्म–विश्वास जाग्रत करके हम उसमें संकल्प बल भरने में सफल हो सकते हैं । उसके संकल्प बल और प्रबल इच्छा शक्ति के समक्ष कोई बुराई उसके व्यक्तित्व में ठहरने का साहस नहीं कर सकेगी । जीवन के प्रति विधेयात्मक दृष्टिकोण उसके जीवन का खोया उल्लास फिर से लौटा देगा ।

१. व्यस्त रहें-मस्त रहें ।
२. सुख बाँटें-दुःख बटाएँ ।
३. सलाह लें-सम्मान दें ।
४. मिल-बाँटकर खाएँ ।

यूनिट-४ मनुष्य, मनुष्य बनकर जिए

मनुष्य असीमित शक्तियों से संपन्न :

जीवन में आने वाली कठिनाइयाँ मनुष्य को साहसी, शक्तिवान्, प्रगतिशील, विकासोन्मुख, चतुर और पराक्रमी बनाती हैं । पतनोन्मुखी दुष्प्रवृत्तियों से मुक्ति पाने के लिए व्यक्ति को आत्मबोध कराने के साथ–साथ उसका संकल्प–बल जाग्रत किया जाना चाहिए । मनुष्य की शक्ति और सामर्थ्य, ज्ञान और विज्ञान के बारे में ऋषियों की कल्पना बड़ी विशाल है । उनका संपूर्ण जीवन मानव जीवन का विश्लेषण करने में ही लग जाता है । वे सिद्ध करते हैं कि मनुष्य में जो शक्तियाँ सन्निहित हैं वे असीम, अनंत और अलौकिक हैं । दैवी संपदा के रूप में इस महानता को विकसित करने की उनकी साधना अमर है । वे सदैव इस बात के लिए प्रयत्नशील रहे कि मनुष्य, मनुष्य बना रहे । मानवता से गिर कर वह निर्दय या निरीह न बन जाए । इसके लिए उन्होंने अनेक प्रयोग किए, अनेक नियम बनाए जो समय बदल जाने पर भी अपरिवर्तित हैं । मानवता के सिद्धांत शाश्वत हैं, उनकी आवश्यकता प्रत्येक युग में रही है और आज भी है । **हम भगवान न बन सकें न सही, देवता न बनें तो भी कुछ हर्ज नहीं, पर यदि मनुष्य, मनुष्य न रहे तो यह उसके कलंक की ही बात होगी ।**

इस धरती में जब–जब मानवता विकसित हुई, तब–तब सुख–संपदाओं की यहाँ कोई कमी नहीं रही, पर जब कभी मानवता गिरी और पशुता पनपी, सारा मनुष्य समाज शोक–सागर में डूब गया । इतिहास साक्षी है कि मानवीय समृद्धि के आधार युग नहीं रहे वरन् उनमें सन्निहित सद्वृत्तियाँ रही हैं । मनुष्यता के विकास के साथ संपन्नता विकसित होती है और

उसके अभाव में दारुण दुःख इस समाज को जकड़ लेते हैं ।

मनुष्य परमात्मा के दिव्य गुणों, आत्मिक और मानसिक संपदाओं का पुंज बनकर इस धरती पर अवतरित होता है । उत्तराधिकार में उसे बड़ी शक्तियाँ मिली हैं । परमात्मा का उद्‌देश्य इन शक्तियों का दुरुपयोग कराना रहा होता, तो उसने मनुष्य को यह अधिकार न दिए होते । इन अधिकारों का दुरुपयोग वह न करे तो वह सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी सिद्ध हो सकता है, अपने मनुष्य शरीर को सार्थक बना सकता है ।

सामाजिक कष्टों का कारण मनुष्य की पाशविक वृत्तियाँ :

स्वार्थवश, प्रमादवश, अहंकार और तृष्णा की भूख जब उसे बढ़ती है तो मनुष्य, मनुष्य न रहकर पशुत्व की कोटि में पहुँच जाता है । इस युग में सामूहिक रूप में ऐसी ही दुष्प्रवृत्तियों का प्रभाव बढ़ा हुआ है । मनुष्य समाज के बढ़े हुए कष्टों का कोई दूसरा कारण नहीं वरन् उनकी बढ़ी हुई पाशविक वृत्तियाँ ही हैं । **धर्म का उद्‌देश्य मनुष्य को पशु–प्रवृत्ति से बचाना और मानव जीवन को सार्थकता के कार्यक्रमों में लगाना है ।** पशुत्व से ऊँचा उठाने वाला जो है उसे ''मनुष्यता'' कहते हैं । धर्म और मनुष्यता एक–दूसरे के प्रतिरूप हैं । **धर्म का अर्थ मनुष्यता है, या मनुष्यता ही धर्म है । यह दोनों बातें एक ही हैं ।** आज धर्म का स्वरूप कैसा विकृत हो रहा है । लोगों के दृष्टिकोण धर्म के नाम पर कितने ओछे कितने संकीर्ण हैं, यह अप्रकट नहीं है । मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से लेकर ईश्वर उपासना तक सभी धार्मिक अंग आत्म–प्रवंचना से ओत–प्रोत हैं । भाई–भाई का व्यवहार छलपूर्ण है । मालिक और नौकर में नहीं पटती, ग्राहक और दुकानदार के संबंध अच्छे नहीं । मनुष्य का न आहार ठीक है, न विचार । व्यक्तिगत स्वतंत्रता के नाम पर उद्‌दंडता और उच्छृंखलता को ही आश्रय मिल रहा है । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मनुष्य ने मनुष्यता को तिलांजलि दे दी है । छल,

दंभ, द्वेष, पाखंड, झूठ, अन्याय, तृष्णा, स्वार्थ, वासना और अहंकार इन सब आसुरी संपदाओं का प्रदर्शन मनुष्य की पशुता की सूचना दे रहा है। पुस्तकों में आज मनुष्य को सभ्य लिखा जाता है, पर सत्य यह है कि व्यवहार में आज वह जानवरों से भी गया बीता है।

पशुओं की आदत होती है कि पेट भर गया तो चारे की ओर से मुँह फेर लिया। दूसरे जानवर को, चरते देखकर उसे ईर्ष्या नहीं होती, पर मनुष्य मनुष्य की उन्नति देखकर जल–भुन उठता है और उसकी राह में रोड़े अटकाने का प्रयास करने लगता है। अधिकांश पशु–पक्षी जिनमें न विचार होता है न वाणी, पवित्र दांपत्य जीवन बिता लेते हैं, पर मनुष्य इतना ओछा हो गया है कि वह अपने आश्रितों के साथ भी स्वार्थपरता का व्यवहार करने से नहीं चूकता।

भय का अभाव :

मनुष्य बने रहने का अर्थ है–आत्मभावना का परिष्कार। गीता में भगवान कृष्ण ने दैवी संपदा के रूप में ऐसे नैतिक मूल्यों का दिग्दर्शन कराया है जो श्रेष्ठ मनुष्य के लक्षण हैं। आइए उन मूल्यों को व्यावहारिक रूप में समझने का प्रयास करें। प्रथम मानवीय मूल्य है–**भय का अभाव**। आज का सभ्य कहलाने वाला ज्ञानी मनुष्य भाँति–भाँति के भयों में फँसा है। भय हमारा स्वभाव नहीं है। भय हमारी अपनी आदत मात्र है। यदि हम अपनी महान् शक्तियों का अद्‌भुत चमत्कार देखना चाहते हैं तो हमें निर्भयता सीखनी चाहिए।

जब मन, वचन, कर्म में एकता नहीं रहती तब आंतरिक अशुद्धि प्रारंभ होती है और क्रमशः काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, अभिमान, राग, द्वेष, छल, कपट एवं दंभादि दुर्गुण चित्त को अपवित्र बना देते हैं। आज बड़प्पन की टीपटाप तो रह गई है, किंतु आंतरिक महानता से जीवन बहुत दूर चला गया है।

मन के स्वार्थ, वासनाओं तथा अहंबुद्धि के परिमार्जन से अंतःकरण की शुद्धि हो सकती है ।

सात्त्विक दान एवं इंद्रिय निग्रह :

दान का अभिप्राय है–संकीर्णता से छुटकारा, आत्म संयम का अभ्यास एवं दूसरों की सहायता की भावना । दान करते समय हमारे मन में यश प्राप्ति की इच्छा, फल की आशा या अहंकार की भावना नहीं होनी चाहिए । दान तो स्वयं प्रसन्नता, सुख एवं संतोष का दाता है । दान करना स्वयं एक आनंद है । देश, काल, पात्र का विचार करके केवल कर्त्तव्य बुद्धि से द्रव्य अथवा आवश्यक वस्तु का दान करना श्रेयस्कर है ।

इंद्रियाँ दो प्रकार की हैं–कान, त्वचा, नेत्र, जीभ और नाक यह ज्ञानेंद्रियाँ तथा हाथ, पाँव, वाक्, पायु तथा उपस्थ कर्मेंद्रियाँ हैं, किंतु इनमें ज्ञानेंद्रियाँ अधिक प्रबल हैं । इनमें से प्रत्येक में आसक्ति द्वारा अत्यंत भयंकर पतन संभव है । सांसारिक विषयभोग, तामसिक पदार्थों का सेवन, कुतर्क, भोग विलास, परनिंदा, दंभ, परदोष श्रवण, अत्यधिक कामना, नियमानुवर्त्तित का अभाव, वृत्तियों को अस्थिर एवं चंचल कर देता है और इंद्रियाँ विषयों की आसक्ति में फँसती हैं । इसके विपरीत जीवनचर्या को सात्त्विक, प्रेम भक्ति से सराबोर रखने से, योग आसनों द्वारा व्यायाम, प्राणायाम से समस्त नीच इंद्रियाँ फीकी पड़ जाती हैं ।

पूजा एवं स्वधर्म पालन :

पूजा से यहाँ सुविस्तृत अभिप्राय लेना चाहिए । संपूर्ण विश्व में नाना रूपों में भगवान हमारी पूजा चाहते हैं । आप चाहे जिस स्थिति में हों, निज कर्मों द्वारा भगवान के किसी अंश की पूजा कर सकते हैं । **यदि डाक्टर हैं तो मरीजों में भगवान का स्वरूप देखिए, यदि अध्यापक हैं तो विद्यार्थियों में भगवान आपसे सेवा चाहते हैं, यदि दुकानदार हैं तो ग्राहकों को परमेश्वर का**

अंश मानकर कर्मों द्वारा उनकी सेवा कीजिए । आपकी पूजा सद्व्यवहार, सहानुभूति, प्रेम, आदर, बुद्धि, साधु व्यवहार के रूप में होनी चाहिए । जिस मनुष्य ने स्वधर्म पालन को ही अपना मूल मंत्र बना लिया है वह सदा सुखी और आनंदित रहेगा । उसके विचारों में दृढ़ता, संकल्प में निष्ठा एवं भावनाओं में पवित्रता होगी ।

अंतःकरण की सरलता एवं उपरामता :

अंतःकरण की सरलता से अभिप्राय है–छल, द्वेष, प्रपंच, दुरभिसंधि से मुक्ति, निःस्वार्थ भाव तथा शुद्ध हृदय से पीड़ित जनता की सेवा, आत्मा का प्रकृति एवं मनुष्यों के साथ स्वच्छंद संपर्क निस्संकोच, निर्भय व्यवहार । सरलता एक प्रकार का मानसिक स्वास्थ्य भी है । मनुष्य जब अंतःकरण के मल धो डालता है, तो उसकी बुद्धि, आत्मा, मन एवं आंतरिक दृष्टि स्वच्छ हो जाती है । ''उपरामता'' से अभिप्राय है कि पुरुष में चित्त की चंचलता का सर्वथा अभाव रहे । चित्त की चंचलता से साधारण मनुष्य तुच्छ बातों से उद्विग्न हो जाया करता है, उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, वह जरा–जरा सी बात पर बिगड़ता है । इससे बचने के लिए हमें प्रतिदिन सायंकाल सोते समय संपूर्ण दिन के शुभ–अशुभ कृत्यों पर मनन करना चाहिए । सात्त्विक कार्यों के लिए मन को प्रोत्साहन एवं दुष्कार्यों के लिए ताड़ना देनी चाहिए ।

अहिंसा, मधुर भाषण एवं अक्रोध :

अहिंसा से अभिप्राय है–मन, वाणी, शरीर से किसी को किसी प्रकार का भी कष्ट न देना । किसी को अपशब्द कहकर दुखी कर देना भी उतना ही घातक है, जितना किसी को अपने शरीर से मारना, आघात करना या पीट देना । दैवी संपदा युक्त साधक का व्यवहार इतना मृदुल सहानुभूति पूर्ण एवं प्रेम पूर्ण होता है कि कायिक, वाचिक एवं मानसिक कुप्रभावों से मुक्त

रहता है । वाक् कर्मेंद्रिय है जिसकी साधना द्वारा मनुष्य सद्‌गति प्राप्त कर सकता है । इस साधना का सर्वोत्तम उपाय यह है कि किसी से कटु, अप्रिय, अभद्र शब्द न बोलिए, अपने से छोटों, नौकरों, बालकों तक को अपशब्द द्वारा न पुकारिए । क्रोध करना प्रत्येक दृष्टि से हेय है । इससे मन में भयंकर उद्वेग, थरथराहट, कंपन, जलन, दूषित संस्कार उत्पन्न होते हैं जो अंतःकरण की शांति को भंग कर देते हैं, मन की समस्वरता, संतुलन एवं शांत प्रकृति नष्ट हो जाती है, बुद्धि पर एक प्रकार का पर्दा–सा छा जाता है ।

दया एवं अनासक्ति :

दैवी पुरुष निंदा के स्थान पर शांतिदायक, सत्य, प्रिय और मधुर वचन कहते हैं । वास्तविक दया का अर्थ भी समझ लेना चाहिए । **"किसी भी दुखी, आर्त्त प्राणी को देखकरउसके दुख एवं आर्त्तता की निवृत्ति के लिए अंत:करण में जो (हेतु रहित) द्रवतायुक्त भाव उत्पन्न होता है उसी का नाम दया है ।"** अपने लाभ की आकांक्षा का उसमें लेशमात्र भी आवरण नहीं होता । दया तो केवल दया के लिए ही होती है । **दया किसी स्वार्थ विशेष से प्रेरित होने पर अपने देवत्व के गुण को खो देती है ।**

आसक्ति के आधिक्य से कृपणता भी उत्पन्न हो सकती है, मनुष्य विषय लोलुप बन सकता है । अंतः द्वेष का मूल कारण वास्तव में आसक्ति है । इसके विपरीत आसक्ति रहित व्यक्ति अपने संपूर्ण कार्यों में स्वार्थ हीन राग–द्वेष रहित होता है । मान, बड़ाई, सांसारिक प्रतिष्ठा उसे झूठ, कपट में या अन्य अनुचित कार्यों में नहीं खींच सकती । उसकी बुद्धि सर्वत्र सम रहती है ।

क्षमा एवं धैर्य धारण :

पूर्ण शक्ति संपन्न होने और बदला लेने के साधन होते हुए भी दोषी को माफ कर देने का नाम क्षमा है । क्षमा में दोनों ओर का लाभ है । आवेश में संभव है आप कुछ ऐसा कार्य कर जाएँ जिसके लिए

सदा दुख उठाना पड़े और एक व्यक्ति सदा के लिए आपका शत्रु बन जाए । यदि प्रतिशोध न लेकर प्रेम तथा सहानुभूति से क्षमा कर दिया जाए, तो उसका चिरस्थाई प्रभाव दूसरे के हृदय पर पड़ता है और मनुष्य सदा के लिए अपना हो जाता है । आपको अपनी कठिनाइयाँ प्रतिकूलताएँ पर्वत के समान दुर्भेद्य, सिंह के समान भयंकर और अंधकार के समान डरावनी प्रतीत हों, किंतु उनमें धैर्य रखिए । घबराहट या गिड़गिड़ाहट नहीं । बकरी की तरह मिमियाइए नहीं बल्कि सिंह के समान दहाड़ते हुए कर्तव्य मार्ग पर दृढ़ बने रहिए । धैर्य एक ऐसी दैवी संपदा है, जिसके बल से साधक पग–पग पर मजबूती से कदम उठाता है ।

पवित्रता एवं निर्वैर :

पवित्रता दो प्रकार की होती है–बाह्य एवं आंतरिक । आजकल लोग बाहरी सफाई पर बहुत जोर देते हैं । सुंदर–साफ कपड़े पहनते हैं, सफेदपोश रहते हैं, नाना प्रकार के पदार्थों से बाहरी सफाई का ढोंग करते हैं किंतु वास्तविक दैवी संपदा तो आंतरिक शुद्धि में ही है । अहंभाव से बैर तथा ईर्ष्या की उत्पत्ति होती है । बैर भाव से हम अपने इर्द–गिर्द विषाद, शोक, हिंसा, द्वेष, अभिमान, लोभ, दंभ, ईर्ष्या का दूषित वातावरण उत्पन्न करते हैं । हमारे प्रेमी मित्र भी पास आते हिचकते हैं ।

किया क्या जाए ? :

गीता में वर्णित दैवी संपदाओं में से कुछ का ही संदर्भ यहाँ दिया गया है । इनमें से सभी का समावेश मनुष्य की जीवन शैली में होने का अर्थ है, मनुष्य देवता बन जाएगा । **इन नैतिक मूल्यों को एक–एक करके व्यावहारिक जीवन में उतारने का प्रयास करने पर आप में कितना अंतर आने लगेगा । प्रयास धीरे–धीरे करें, पर करें दृढ़तापूर्वक, आपको लगेगा और आपके इर्द–गिर्द के लोगों को अनुभूति होगी कि आपका कायाकल्प होना प्रारंभ हो गया है । यही स्वानुभूति आपको श्रेष्ठ मानव बनाने में सहायक होगी ।**

यूनिट-५	पशुओं जैसा जीवन त्यागिए

मानव और पशु में अंतर :

मानवीय मूल्यों को संबंध में पढा था जिन्हें गीताकार ने दैवी संपदाएँ कहा है और यदि उनमें से कुछ का भी जीवन–व्यवहार में समावेश कर लिया जाए तो हम श्रेष्ठ मानव कहलाने के अधिकारी हो सकते हैं, पर आवश्यकता इस बात की है कि पहले हम पशुवत् जीवन त्यागने को सहमत हों । **मनुष्य और पशुओं में यह अंतर है कि मनुष्य अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओं को उठता, उमँगता अनुभव करता है लेकिन पशु नहीं । यों मनुष्य और पशु में बुद्धि का अंतर भी है, पर वह गौण है ।** कई प्राणी मनुष्य से भी अधिक बुद्धिमान होते हैं । मनुष्य के अंदर और अपना हित और अंतस् में इच्छा, आकांक्षाओं के ज्वार निरंतर उठते हैं और उनकी प्रेरणाओं से ही वह नयी उपलब्धियाँ प्राप्त करता है, नई शोधें करता है, जबकि पशुओं में सीमित इच्छाएँ होती हैं या फिर वे अपनी नैसर्गिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही बुद्धि का प्रयोग करते हैं ।

मानवी आकांक्षाएँ प्रगति का मूल कारण :

कहने का आशय यह है कि आकांक्षाएँ ही मनुष्य की बौद्धिक क्षमता को गति देती हैं, उन्हें सक्रिय करती हैं । मनुष्य अपने आस–पास कुछ ऐसी स्थितियाँ, ऐसी क्षमताएँ और ऐसे साधन देखता है जो उसके पास नहीं हैं । बुद्धि उन्हें पास कर देती है और उसी का सूक्ष्म रूप अंतःकरण उन्हें पाने के लिए मचल उठता है तथा जिसे बुद्धि के नाम से जानते हैं, वह चेतना उसे प्राप्त करने के उपाय सोचती है ।

अन्य प्राणी न स्वास्थ्य की कामना करते हैं, न धन चाहते

हैं, न ही उन्हें इस बात की चिंता है कि उनका प्रभाव क्षेत्र कितना व्यापक है, न ही वे यश की कामना करते हैं । यह मनुष्य ही है जिसके मन में कामना, आकांक्षाएँ उठा करती हैं और वह उन आकांक्षाओं की पूर्ति में व्यस्त हो जाता है । सामान्य मनुष्य स्वास्थ्य, धन, यश और प्रभाव की कामना करता है । उसके मन में इन्हीं के कल्पना चित्र स्थिर हुए नहीं कि वह इनकी पूर्ति में लग जाता है । उसकी मानसिक शक्तियाँ उस चित्र को साकार करने में जुट जाती हैं । उसके शारीरिक क्रिया–कलाप अपनी आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए सक्रिय होने लगते हैं ।

इच्छाओं और आकांक्षाओं को इसी कारण मनुष्य की प्रगति का मूल कहा जाता है, क्योंकि दिखाई देने वाली प्रवृत्तियाँ तो बाद में उभरती हैं । वे प्रवृत्तियाँ, आकांक्षाओं के रूप में ही जन्म लेती हैं । यों हमारे मन में कितनी इच्छाएँ उठती रहती हैं, पर पूरी शायद उनकी एक प्रतिशत भी नहीं हो पातीं । बाजार जा रहे हैं और दुकानों पर कई सुंदर–सुंदर चीजें दिखाई देती हैं । मन चुपचाप उन पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता चलता है । उन्हें अच्छा या बुरा बताता जाता है । इसका यही अर्थ है कि मन उन्हें प्राप्त करने अथवा छोड़ देने के निर्णय करता जा रहा है । ये प्रतिक्रियाएँ इस बात का संकेत हैं कि मन उन चीजों की प्राप्ति की कल्पना करता चल रहा है और उस कल्पना से आनंदित होता जा रहा है । क्योंकि मन का स्वभाव है कि जिस चीज को वह पसंद करता है, उसे वह प्राप्त भी करना चाहता है । मनुष्य इच्छाओं का पुतला है और उसकी इच्छाएँ किस स्तर की हैं यह उसकी कार्य पद्धति, विचारों और क्रिया–कलापों से पता चल जाता है । यह बात कई लोग कहते हैं कि मनुष्य कैसा है, यह उसके चेहरे पर लिखा होता है और उसके चेहरे को देखकर

पता लगाया जा सकता है कि वह क्या चाहता है ? यह ठीक भी हो सकता है । शांत झील में जिस प्रकार एक पत्थर फेंकने से लहरें उठती हैं और किनारे पर आकर ही दम लेती हैं । ठीक इसी प्रकार हमारी इच्छाएँ क्या हो सकती हैं ? यह चेहरे पर आने वाले हाव–भावों से मालूम पड़ता है ।

इच्छाओं का पुतला मनुष्य :

इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य इच्छाओं का पुतला है और आकांक्षाएँ उसका जीवन हैं । इच्छाओं और आकांक्षाओं के चक्रों पर ही मनुष्य के जीवन की गाड़ी दौड़ती है अन्यथा उसकी सामान्य आधारभूत आवश्यकताएँ तो इतनी थोड़ी सी हैं कि वे थोड़े से समय और थोड़े से श्रम द्वारा ही पूरी हो सकती हैं । आवश्यकताओं के आधार पर ही यदि मनुष्य का मूल्यांकन और महत्त्व विश्लेषित किया जाए तो लगेगा कि पेट भर खाना मिल जाए, तन ढकने को कपड़ा मिल जाए और हवादार आरामदेह मकान हो, तो इसके बाद उसकी कोई आवश्यकता नहीं है । इससे आगे शिक्षा और मनोरंजन भी जोड़े जा सकते हैं, पर वे भी बौद्धिक विकास के आधार पर हैं । बौद्धिक आवश्यकता न हो तो इनकी कोई जरूरत नहीं है । शिक्षा जहाँ मनुष्य के बौद्धिक विकास और मानसिक शिक्षण से संबंध रखती है वहीं मनोरंजन इन विशिष्ट चेतनाओं को विश्राम देने तथा सुख प्राप्त कराने के लिए होता है । पशु भी अपने बच्चों के साथ अठखेलियाँ करते हैं और किलकारियाँ भरते हैं । क्रियाओं को मनोरंजन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पशुओं में वृद्धि और स्फुरणा अथवा इच्छा जैसी कोई हलचल नहीं दिखाई देती । अगर कुछ होती भी है तो नहीं के बराबर ।

विचार शक्ति मनुष्य को प्राप्त अमूल्य उपहार :

मनुष्यों की पशु–पक्षियों से तुलना करते हुए शास्त्रकार ने लिखा है कि आहार–विहार, भय, निद्रा, कामेच्छा की दृष्टि से मनुष्य और पशु में कोई विशेष अंतर नहीं पाया जाता। शारीरिक बनावट में भी कोई बड़ी असमानता दिखाई नहीं पड़ती। खाने–पीने, चलने, उठने, बैठने, मलमूत्र त्यागने के सभी साधन पशु और मनुष्यों को प्रायः एक जैसे ही मिले हैं, पर मनुष्य में कुछ विशेषताएँ इन प्राणियों से भिन्न है। उसकी रहन–सहन की रुचि, उचित–अनुचित का भय, भाषा, भाव आदि कितनी ही विशेषताएँ यह सोचने को विवश करती हैं कि वह इस सृष्टि का श्रेष्ठ प्राणी है। उसकी रचना किसी उद्देश्य पर आधारित है। इन संपूर्ण विशेषताओं का कारण उसका ज्ञान है। साधारण तौर पर शरीर यात्रा चलाने और मन को प्रसन्न करने की क्रिया पशु भी करते हैं, किंतु इसके पीछे उनका कोई विधिवत् विचार नहीं होता। उनके कार्य में अस्त–व्यस्तता दिखाई देती है। उससे प्रकट होता है कि उन्हें उचित–अनुचित का ज्ञान नहीं होता।

मनुष्य का प्रत्येक कार्य विचारों से प्रेरित होता है। यह भी कहा जा सकता है कि **मनुष्य को विचारशक्ति इसलिए मिली है कि उचित अनुचित को ध्यान में रखकर वह सृष्टि संचालन की नियमित व्यवस्था बनाए रखने में प्रकृति को सहयोग देता रहे। जो केवल खाने–पीने और मौज उड़ाने की ही बात सोचते हैं, इसे ही जीवन का श्रेय मानते हैं** उनमें और मनुष्येत्तर पशु–पक्षियों और कीट–पतंगों में अंतर कहाँ रहा ? यह क्रियाएँ तो पशु भी कर लेते हैं।

सृष्टि का सुंदर रूप विचार शक्ति के कारण :

विचार बल संसार का सर्वश्रेष्ठ बल है। विचार शक्ति का सूचक है। पशु निर्विचार होते हैं इसलिए वे परस्पर अपनी

भावनाओं का आदान–प्रदान नहीं कर सकते । उनकी कोई लिपि नहीं, भाषा नहीं । किसी प्रकार का संगठन बनाकर अपने प्रति किए जा रहे अत्याचारों का वे प्रतिवाद नहीं कर सकते । इसलिए शारीरिक शक्ति में मनुष्य से अधिक सक्षम होते हुए भी पराधीन हैं । विचारशक्ति के अभाव में उनका जीवन क्रम एक बहुत छोटी सीमा में अवरुद्ध पड़ा रहता है ।

विश्रृंखलित, ऊबड़–खाबड़ धरती को क्रमबद्ध व सुसज्जित रूप देने का श्रेय मनुष्य को है । घर, गाँव, शहर, देश आदि की रचना सुविधा और व्यवस्था की दृष्टि से कितनी अनुकूल है । अपनी इच्छाएँ, भावनाएँ दूसरों से प्रकट करने के लिए भाषा–साहित्य और लिपि की महत्ता किससे छिपी है । आध्यात्मिक अभिव्यक्ति और सांसारिक आह्लाद प्राप्त करने के लिए कला कौशल, लेखन, प्रकाशन की कितनी सुविधाएँ आज उपलब्ध हैं । यह मनुष्य की विचार शक्ति के परिणाम हैं । मनुष्य को ज्ञान न मिला होता तो वह भी रीछ–बंदरों की तरह जंगलों में घूम रहा होता । सृष्टि को सुंदर रूप मिला है तो वह मनुष्य की विचारशक्ति का प्रतिफल है । विचारों का उपयोग निस्संदेह अतुल्य है ।

निरुद्देश्य जीवन पशु तुल्य :

विचारों की विशिष्ट शक्ति का स्वामी होते हुए भी मनुष्य का जीवन निरुद्‌देश्य दिखाई दे तो इसे दुर्भाग्य ही कहा जाएगा । जिसके कार्यों में कोई सूझ न हो, विशिष्ट आधार न हो उस जीवन को पशु जीवन कहें तो इसमें अतिशयोक्ति क्या है ? हवाई जहाज निराधार आकाश में उड़ता है । अभीष्ट स्थान तक पहुँचने का उसे निर्देश न मिलता रहे तो वह कहीं से कहीं भटक जाएगा । कुतुबनुमा की सुई वायुयान चालक को बताती रहती है कि उसे किस दिशा में चलना है । इस निर्देश के आधार पर ही वह सैकड़ों मील का रास्ता पार कर लेता

है । प्रत्येक प्राकृतिक पदार्थ किसी न किसी उद्देश्य से निर्मित है । सूर्य प्रतिदिन आसमान में आता है और लोगों को प्रकाश, गर्मी और जीवन देने का अपना लक्ष्य पूरा करता रहता है । वृक्ष, वनस्पति, वायु, जल, समुद्र, नदियाँ सभी किसी न किसी लक्ष्य को लेकर चल रहे हैं । इस संसार में यह व्यवस्था है तभी तक प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक पदार्थ अपनी अवस्था के अनुसार अपने कर्त्तव्य कर्म पर स्थिर है ।

मानव जीवन की महत्ता इस पर है कि हम वर्तमान साधनों का उपयोग अंतर्दर्शन या आत्मज्ञान प्राप्ति के लिए करें । उद्देश्य का मार्ग बहुधा किसी विशिष्ट दिशा की ओर ही होता है । प्रकृति जिस ओर ले जाना चाहे उधर ही चलते रहें तो इन प्राप्त शक्तियों की सार्थकता कहाँ रही ? जैसा जीवन दूसरे प्राणी जीते हैं वैसा ही हम भी जीएँ तो विचारशीलता का महत्व क्या रहा ? बुद्धि की सूक्ष्मता, आध्यात्मिक अनुभूतियाँ, विराट की कल्पना आदि ठीक वायुयान का मार्गदर्शन करने वाली कुतुबनुमा की सुई के समान है । जिससे मनुष्य चाहे तो अपना उद्देश्य पूरा करने का निर्देश प्राप्त कर सकता है । उद्देश्य कभी श्रमहीन और मात्र सांसारिक नहीं हो सकते । जिन साधनों से इहलौकिक रसानुभूति मिलती है वे केवल मानव जीवन की सरसता और श्रेष्ठता को कायम रखने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होते । इन्हीं के पीछे पड़े रहें तो अपना वास्तविक जीवन लक्ष्य पूरा न हो सकेगा ।

लक्ष्य की उत्कृष्टता : मानव की विशेषता :

यदि यह विचार बना लिया कि हमारा उद्देश्य जीवन मुक्ति है तो अभी से इसकी पूर्ति में लग जाइए। एक बार लक्ष्य निर्धारित कर लेने के बाद अपनी संपूर्ण चेष्टाओं को उसमें जुटा दीजिए। अपने धैर्य से विचलित न हों, जो राह पकड़ी है उस पर दृढ़तापूर्वक चलते रहें। तब देखें कि आप कितनी शीघ्रता से

अपना जीवन लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं। महापुरुषों का यह प्रधान सद्गुण है कि वे अपने जीवन उद्देश्य से कभी डिगते नहीं। महापुरुषों के जीवन में उद्देश्य की एकता और तल्लीनता, लगन और तत्परता इस ऊँचे दर्जे तक पाई जाती है कि वह पाठक के अंतस्तल को झकझोरे बिना मानती नहीं। आपकी महानता की कसौटी भी इसमें है कि आप अपने लक्ष्य के प्रति कितने आस्थावान् हैं ? उसकी पूर्ति के लिए आप कितना त्याग और बलिदान करते हैं ?

उद्देश्य बना लेना ही पर्याप्त नहीं हो सकता है। यह भी परखना पड़ेगा कि आपका ध्येय कितना मूल्यवान है। उद्देश्य उच्च न हुआ तो परिस्थिति बदलते ही उस विचारणा का बदल जाना भी संभव है। असाधारण लक्ष्यों में ही वह शक्ति होती है जो मनुष्य को नियमित प्रेरणा देती रहे और उसे उत्साह से ओत-प्रोत रखती रहे। मंजिल तक पहुँचने में जो बाधाएँ आती हैं उनसे संघर्ष करने और धैर्यपूर्वक अंत तक डटे रहने की क्षमता लक्ष्य की उत्कृष्टता से ही संभव होती है।

इसमें संदेह नहीं है कि जीवन लक्ष्य प्राप्ति कठिन प्रकिया है, किंतु इस प्रकार उद्देश्य संरक्षण से ही मनुष्य का नैतिक विकास होता है । जो अपने शरीर और मन को कष्टपूर्ण कसौटी में भलीभाँति कस लेते हैं उन्हीं का चरित्र उज्ज्वल बनता है । नैतिक विकास और चारित्रिक संगठन ही आध्यात्मिकता का विशुद्ध उद्देश्य है । विकारों का दूर करना और सद्गुणों का अभिवर्धन भी धर्म है । इसलिए आध्यात्मिक, धार्मिक एवं नैतिक विकास के साधकों को सर्वप्रथम अपना जीवन लक्ष्य निर्धारित करना चाहिए । **उद्देश्य की आँच पर तपाई हुई आत्माएँ ही संसार का कुछ कल्याण कर सकती हैं । जिनके जीवन का कोई उद्देश्य नहीं उनमें और पशुओं में कोई अंतर नहीं होता ।**

जीवन जीने की कला भाग-१/३९

क्या किया जाए ? :

यह आवश्यक है कि हम स्वमूल्यांकन करें कि हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है ? कहीं यह पशुओं की भाँति पेट–प्रजनन तक तो सीमित नहीं है । **लक्ष्य की श्रेष्ठता ही हमें मानव से महामानव और देवमानव बना सकेगी ।** याद रखें उत्कृष्ट लक्ष्य ही जीवन को उत्कृष्ट बनाता है । मनुष्य का पूर्णतम विकास उसके जीवन लक्ष्य के निर्धारण पर निर्भर करता है । **सामान्य इच्छाओं, आकांक्षाओं से ऊँचा उठकर जो व्यक्ति समाज की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखकर अपना लक्ष्य निर्धारित एवं क्रियाएँ नियोजित करते हैं, वही मानव समाज के विकास में योगदान देने के श्रेय के अधिकारी होते हैं ।**

जिसमें साहस नहीं वह देखने में भले ही जीवित हो, वस्तुतः मृतक है । डरपोक और कायर व्यक्ति पूजा-पाठ की कितनी ही विडंबनाएँ करता रहे, वस्तुतः उसे नास्तिक ही कहा जाएगा ।

यूनिट-६

देव, दानव या मानव कुछ भी बना जा सकता है

अतिमानव ही दानव :

मनुष्य के रूप में जन्म लेने पर पाशविक प्रवृत्तियाँ अपनाना किसी रूप में भी श्रेयस्कर नहीं है, किंतु मानवीय इतिहास में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है जिन्होंने अपने उद्धत अहंकार का प्रदर्शन करने के लिए स्वयं को 'अतिमानव' सिद्ध करने के उद्देश्य से घोरतम दुष्कृत्य किए हैं । इसी दंभ के वशीभूत रावण ने न केवल सैकड़ों युद्ध लड़े, लाखों लोगों को उजाड़ा अपितु अपने संपूर्ण कुटुंब का भी सर्वनाश करा दिया । कंस ने अपनी इस सनक के कारण उस समय के सभी दूध पीते बच्चों का नृशंस वध कराया तो दुर्योधन के इस अभिमान ने अठारह अक्षौहिणी सेना को काल के मुख में धकेल दिया । अतिमानव बनने के चक्कर में उसने अपना भी सत्यानाश किया और इतिहासवेत्ताओं के अनुसार इस युद्ध में विश्व के महानतम सेनानी, वैज्ञानिक, चिकित्सक, कलाकार मारे गए । पीछे जो भ्रष्टाचार फैला वह आज तक भी नहीं सिमट पा रहा । मुसोलिनी, चंगेज खाँ, हिटलर, नादिरशाह यह सभी अतिमानव के ही दुर्बुद्धि जात भाई–भतीजे थे जिन्होंने अपने दुष्कृत्यों के प्रतिफल आप तो भोगे ही, साथ ही संसार को कुरूप, कुत्सित बनाने वाली अव्यवस्थाएँ भी फैलाईं । इसके लिए उनकी घोर निंदा हुई, प्रशंसा नहीं ।

यह अहंकार आदमी को कितना उद्धत बना देता है, इसका प्रमाण पुरातत्त्व वेत्ताओं द्वारा खोजी गई कल्ला मीनारों से मिलता है । मध्य कालीन युद्धों के अरबी इतिहास ग्रंथ के प्रथम अध्याय में बैरम खाँ द्वारा बनवाई गई 'कल्ला मीनार' का

उल्लेख है । इस स्थान का नाम सर मंजिल रखा गया था । सिकंदर शाह सूरी के साथ लड़ने में जितने सिर कटे थे या सैनिक मरे थे उन्हें बटोर कर उन्हें ईंट, पत्थरों की जगह काम में लाया गया था और यह ऊँची मीनार खड़ी की गई थी । मुगल बादशाहों ने और भी कितनी ही ऐसी कल्ला मीनारें युद्ध विजय के दर्प–प्रदर्शन के लिए बनावाई थीं, कल्ला, फारसी में सिर को कहते हैं ।

अतिमानव नहीं महामानव बनें :

अपने इन कुकर्मों के कारण से कोई भी अतिमानव तो नहीं बन पाया, हाँ ! आसुरी कुटुंब की ही जनसंख्या इनने बढ़ाई । अतिमानव बनने के लिए दुष्कृत्य नहीं मानवीय संवेदना का कभी न चुकने वाला विपुल भावना प्रवाह अपेक्षित है । जर्मनी तथा अन्य योरोपीय देशों में भी सुपरमैन शब्द आता है, पर यह ऐसे उद्धत अहंकारी लोगों के लिए नहीं अपितु उन महामानवों के लिए जिन्होंने मानव जीवन के उत्थान के लिए कार्य किया । गेटे, शोपन हॉवर, हाइन बेगनर, बिस्मार्क आदि मानवतावादी महापुरुषों के लिए यह शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

नीत्से ने इस शब्द का उपयोग और भी निश्चित संदर्भ में किया । इस महान दार्शनिक ने अपनी प्रख्यात पुस्तक ''जरथुस्त्र उवाच'' (दस स्पोक जरथुस्त्र) तथा ''भले बुरे से परे'' (वियॉन्ड गुड एण्ड ईविल) में इस ''सुपरमैन'' शब्द का न केवल प्रयोग किया अपितु उसकी व्याख्या इन शब्दों में की है ''वह विश्व व्यवस्था की सूक्ष्म प्रक्रिया को समझता है, संकल्प को कार्य में परिणत कर सकता है, इष्ट कार्य का हृदय से नेतृत्व करता है, क्रोध को सदा वशवर्ती रखता है, नारी के वश में नहीं होता। दुष्टों के दलन में समर्थ होता और दुष्प्रवृत्तियों को उखाड़ फेंकता है।'' हमें इसी कोटि के महापुरुषों का अनुगमन करना और उनके कार्यों में सहायक होना चाहिए।

स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा हो तो ऊँचे उठें :

मनुष्यता भूलोक की वस्तु है। इस धरती के श्रेष्ठ नागरिक बन कर मानवीय कर्तव्यों को पूरा करते हुए हम भूलोकवासी मानव प्राणी कहला सकने का गर्व और गौरव अनुभव कर सकते हैं। इससे ऊँचे में जाने की इच्छा हो, स्वर्ग के पाने और रहने की इच्छा हो, तो हमें ऊँचा उठना होगा। कर्त्तव्यनिष्ठ नागरिक मात्र रहने भर से संतुष्ट न होकर करुणा और ममता का विकास करना होगा। पुण्य और परमार्थ अपनाना होगा। अपना चरित्र उस मार्गदर्शक स्तंभ के रूप में विनिर्मित करना होगा, जिसके प्रकाश में अगणित लोग सत्पथ पर चलने की प्रेरणा प्राप्त कर सकें। आत्मनिर्माण मानवी कर्तव्य है, पर देव भूमिका की प्राप्ति आत्मविकास से ही संभव है। अपनी अहंता जब संकीर्णता के बंधन तोड़ती हुई विशाल–व्यापक बनती है, तब समझना चाहिए कि हम देव बन रहे हैं। स्वर्ग ऊपर है, ऐसा कहा गया है। वहाँ पहुँचने के लिए ऊँचा उठना ही पड़ेगा। चरित्र, दृष्टिकोण और कर्म तीनों को ऊँचा उठाते हुए कोई भी व्यक्ति स्वर्ग के राज्य में सरलतापूर्वक प्रवेश कर सकता है।

नरक में जाने की इच्छा हो तो वह भी पूर्णतया अपने हाथ की बात है। नरक नीचे है, उसे अधःपतन कहते हैं। पतित जीवन जीने वाले, पतित दृष्टिकोण अपनाने वाले और पतित कर्म करने वाले अपने समग्र अधःपतन के कारण सहज ही नरक तक पहुँच सकते हैं। नीति और सदाचरण की मर्यादाओं का उल्लंघन, कर्तव्य धर्म की उपेक्षा, दूसरे के प्रति निष्ठुरता और दुष्टता का व्यवहार, इन्द्रियों का स्वेच्छाचार, मन की कुटिलता जिसने अपना ली, उसे नरक तक पहुँचने में कोई रुकावट नहीं रहती। वह फिसलता हुआ, उस स्थान तक पहुँचने और चिरकाल तक रहने में सफल हो सकता है, जिसे नरक कहा जाता है

और जहाँ की असंख्य यंत्रणाओं का वीभत्स वर्णन किया जा सकता है।

देव, दानव, मानव तीनों वर्ग मनुष्य जाति में :

मनुष्य, देव और असुर यह तीनों वर्ग माने गए हैं। यों वर्णनकर्त्ताओं ने इनकी आकृति का भी अंतर किया है, पर वह अलंकारिक है। यह तीनों ही वर्ग मनुष्य जाति में ही होते हैं। वस्तुतः आकृति में नहीं प्रकृति में अंतर होता है। देवता सुंदर होते हैं, स्वर्ग में रहते हैं, वरदान देते हैं और सत्कर्म देखकर प्रसन्न होते हैं। स्वयं सुखी रहते हैं। देखने में सुंदर, स्पर्श में सुकुमार, सदा तरुण और अमर, अमृतपाई होते हैं। कल्पवृक्ष के समीप रहने के कारण उनकी कोई कामना अपूर्ण नहीं रहती। असुरों का कलंकित मुख होता है। दांत बड़े–बड़े, खा जाने की लोभ लिप्सा के प्रतीक। सिर पर सींग, हर किसी को त्रास देने, कष्ट पहुँचाने, गिराने की दुष्प्रवृत्ति का परिचय देते हैं। लाल नेत्र–अहंता, ईर्ष्या और आवेश के प्रतीक। ये असुर न चैन से बैठते हैं और न बैठने देते हैं। भयावह ही उनकी आकृति होती है और भयंकर ही प्रकृति ।

मनुष्य इन दोनों का मध्यवर्ती है। उपकार न बन पड़े तो न सही, पर कम से कम किसी का अपकार नहीं करता। अनुकरणीय और अभिवंदनीय न बन सके, पर घृणित बनकर नहीं जीता। कर्तव्यनिष्ठ, सदाचार, स्वाभिमानी और संयत जीवन जीता है, मनुष्य। मनुष्य भू लोक में रहते हैं। देवता स्वर्ग में और असुर नरक में रहते हैं। यह तीनों ही स्थितियाँ हम स्वेच्छापूर्वक वरण करते हैं और उसी स्तर के बन कर रहते हैं।

मानवी मन में अंतर्द्वन्द्व :

एक ओर ईश्वर अपनी भुजाएँ पसारे गोदी में चढ़ाने का, छाती से लगाने का आह्वान करता है, दूसरी ओर लोभ और मोह के बंधन हाथों में हथकड़ी, पैरों में बेड़ी की तरह बँधे हैं।

स्वार्थान्धता की अहंता कमर में पड़े रस्सों की तरह जकड़े बैठी है। पीछे लौटें, जहाँ के तहाँ रुके रहें, या आगे बढ़े ? यह तीन प्रश्न ऐसे हैं जो अपना समाधान आज ही चाहते हैं। अनिर्णीत स्थिति का असमंजस जाग्रत आत्माओं के लिए क्रमशः असह्य ही बनता जाता है।

वृक्ष बनने की महत्वाकांक्षा पूरी करने के लिए बीज को गलने का पुरुषार्थ दिखाना ही पड़ता है। **जो बीज गलने में हानि और बचने में लाभ देखते रहे, उन्हें उनकी कृपणता, तुच्छता के गर्त में ही गिराए रहती है। वे प्रगति की किसी भी दिशा में रंचमात्र भी आगे बढ़ नहीं पाते। दोनों ही मार्ग हर विवेकशील के आगे खुले पड़े हैं। एक प्रेय का दूसरा श्रेय का। एक स्वार्थ का दूसरा परमार्थ का। एक मूर्खता का दूसरा दूरदर्शिता का। एक पतन का–दूसरा उत्थान का. इन दोनों में से एक का चयन करने की चुनौती हर जाग्रत आत्मा के सामने खुली पड़ी रहती है।** दोनों ओर लाभ दीखते हैं और हानि भी। मन भ्रमता, भटकता रहता है। कभी एक को अपनाने की बात सोचता है कभी दूसरे को। कभी एक को पकड़ता है कभी दूसरे को। कभी एक को छोड़ता है कभी दूसरे को। इस असमंजस भरी मनःस्थिति को ही देवासुर संग्राम कहा गया है। इसी को अंतर्द्वन्द्व कहते हैं। जब तक यह स्थिति बनी रहेगी, तब तक कोई चैन से न बैठ सकेगा। अंतर्जगत में चलते रहने वाले इस महाभारत के कारण चीत्कार और हाहाकार छाया रहता है। इस स्थिति के रहते किसी को और कुछ भले ही मिल जाए, शांति एवं संतोष के दर्शन हो ही नहीं सकेंगे।

आसुरी वृत्ति के प्रलोभन :

दैत्य पक्ष का तर्क है कि प्रत्यक्ष तो उपभोग है। उसका लाभ और आनंद तत्काल मिलता है। अधिकांश व्यक्ति उसी मार्ग पर चल रहे हैं। साथी स्वजनों का परामर्श और प्रोत्साहन

उसी के लिए है। फिर अपने को भी दूसरों की तरह इसी मार्ग पर क्यों नहीं चलते रहना चाहिए ? इंद्रियाँ वासना पूर्ति के लिए लालायित रहती हैं और उपभोग के जितने अवसर मिलते हैं उतनी ही बार प्रसन्न होती हैं। आराम की, सुख साधनों की इच्छा शरीर को हर घड़ी रहती है. विनोद मनोरंजन में जी रमता है। इनके साधन इकट्ठे करने में लगे रहने का प्रतिफल सुविधाओं और उपभोग सामग्री की बहुलता के रूप में तत्काल मिलता है फिर इन्हीं के लिए सोचते और करते रहने में क्या हर्ज है ? साथ तो कुटुंबी ही रहते हैं। उनकी अनुकूलता और प्रसन्नता पाने के लिए उन्हें सुविधा साधन देना आवश्यक है। फिर वैसा ही क्यों न करते रहा जाए, जिसकी कुटुंबीजन अपेक्षा करते हैं। यह चिंतन, परामर्श दैत्य वर्ग का है। इसमें तात्कालिक लाभ को ही सब कुछ बताया जाता है और कहा जाता है कि प्रत्यक्ष की उपेक्षा करके परोक्ष की अपेक्षा क्यों की जाए ? इन तर्कों से प्रभावित जीवात्मा को लोभ और मोहग्रस्त जीवन जीना पड़ता है। वासना और तृष्णा ही उसकी गतिविधियों पर छाई रहती है। अहंता की पूर्ति इसी में लगती है। लोगों का परामर्श एवं सहयोग इसी के लिए मिलता है। समीपवर्ती वातावरण का प्रभाव भी मनोभूमि पर इसी रूप में आच्छादित रहता है।

दिव्यता का परामर्श :

अंतरात्मा में अवस्थित देव पक्ष कहता है–'स्रष्टा ने मनुष्य जीवन की धरोहर किसी विशेष उद्देश्य के लिए प्रदान की है। देवपक्ष का तर्क है कि तात्कालिक लोभ के आकर्षण में यहाँ माया का छलावा ही फैला हुआ है। लिप्सा, बिजली की चमक की तरह ही चकाचौंध उत्पन्न करती और क्षण भर में गायब हो जाती है। जिह्वा का चटोरपन, अश्लील कामुकता की चमक कुछ मिनट ही रहती है ।' इसके उपरांत पेट खराब होने और

शरीर खोखला होने का संकट ही चिरस्थाई रूप से गले बँध जाता है । विलासी शृंगारिकता का उद्देश्य दूसरों को आकर्षित करना और अपना बड़प्पन जताना होता है, किंतु वास्तविक परिणाम इससे ठीक उलटा होता है । छिछोरापन, मनचलापन इससे टपकता है और अप्रमाणिकता की गंध इस सारे विन्यास से आती है । ऐसे लोग किसी की आँख भले ही लुभा लें । विश्वास किसी का भी नहीं पा सकते । संबंधियों को अनावश्यक सुविधा साधन देते रहने से उनका स्वभाव, व्यक्तित्व और भविष्य बिगड़ता है । उनकी बड़ी–बड़ी इच्छाएँ पूरी होने में जब कमी पड़ती है तो तुरंत आँखें बदल जाती है । संचय का धन दूसरे विलसते हैं और अपने को उसके लिए कोल्हू के बैल जैसी मेहनत, प्राण सुखाने वाली चिंता और अनंत काल तक सहने वाली प्रताड़ना के अतिरिक्त और कुछ पल्ले नहीं पड़ता ।

देव पक्ष बुद्धि को निरंतर यही समझाने का प्रयत्न करता है कि इस सुरदुर्लभ सौभाग्य भरे अवसर को जीवन साधना में लगाया जाए और उसका सत्परिणाम वैसा ही पाया जाए जैसा कि प्रातः स्मरणीय, लोकश्रद्धा के भाजन, विश्व के मार्गदर्शक महामानव प्राप्त करते रहे हैं । **सुख–शांति की आकांक्षा आंतरिक उत्कृष्टता के सहारे पूरी होती है । साधनों की मृगतृष्णा में भटकने से थकान और खीज ही पल्ले पड़ती है ।** कस्तूरी का मृग चैन तभी पाता है जब वह सुगंध का स्रोत अपनी नाभि में होने की जानकारी पा लेता है । **सच्ची समृद्धि उत्कृष्ट मन :स्थिति है उसी के आधार पर अनुकूल परिस्थितियाँ बनती हैं ।** यह जान लेने पर साधनों की लालसा और उपयोग की लिप्सा का समाधान होता है अन्यथा वह आग में घी डालते रहने की तरह घटती नहीं बढ़ती ही रहती है ।

क्या किया जाए ? :

अच्छा हो ईश्वर को अपने अंतःकरण के आँगन में क्रीड़ा करने का अवसर दें । देवत्व का समर्थन करें । ऐसा विवेकपूर्ण निर्णय करें जिसके आधार पर देवमानवों जैसी जीवन नीति निर्धारित की जा सके । यह निर्धारण ही पर्याप्त नहीं, इसे कार्यान्वित करने के लिए सत्संकल्प और उत्साह भी चाहिए । इसी उमंग भरे उभार को व्यक्तिगत जीवन में ईश्वर का अवतरण कहा जा सकता है । **औसत भारतीय स्तर का सादा निर्वाह, परिवार को सुसंस्कारी और स्वावलंबी बना देने का उत्तरदायित्व यदि पर्याप्त माना जाए, तो लोभ और मोह की फाँसी से मुक्ति मिल सकती है ।** जो संचय मौजूद है उसी से जीवन की शेष अवधि का निर्वाह भली प्रकार हो सकता है । घर के समर्थ लोगों को पारिवारिक उत्तरदायित्व हस्तांतरित करने में बहुत अधिक कठिनाई नहीं होती ।

जो असत्य है, अवांछनीय है, अनुपयागी है, उसे छोड़कर हम साहस दिखाएँ । अब बहादुर वे नहीं गिने जाएँगे, जो बंदूक चलाने में निपुण हों । अब बहादुरी का मुकुट उनके सिर बँधेगा, जो अपनी दुर्बलताओं से लड़ सके और सत्यपथ पर एकाकी चल सकें ।

जीवन महान ऐसे बनेगा

आधुनिक विकास का श्रेय मानवी बुद्धि को :

आधुनिक युग में जीवन जीने वाले व्यक्ति के मन में होने वाले देवासुर संग्राम में देवत्व का समर्थन करना ही विवेकपूर्ण है। यह सत्य है कि संसार आज जिस भौतिकवादी विकास की स्थिति में है उसका श्रेय मानवी बुद्धि को ही है। संसार को बहुत ही सुंदर, सुसज्जित और व्यवस्थित बनाने में मानव प्राणी की बुद्धिमत्ता को ही सारा श्रेय प्राप्त है। विज्ञान की उन्नाति करके उसने सुखोपभोग की प्रचुर सामग्री उत्पन्न की है। प्रेम, सेवा, करुणा, मैत्री, त्याग, संयम, धर्म, उपासना जैसा उदात्त, आकांक्षा या कल्पना–वासना, विलासिता, मनोरंजन, शृंगार, सुसज्जा, सौंदर्य, संगीत, नृत्य, विनोद, कविता, साहित्य, क्रीड़ा जैसा कलात्मक और क्रोध, संघर्ष, चिंता, द्वेष, शोक, प्रतिशोध, भय जैसी निकृष्ट मनोवृत्तियों का एक पूरा संसार ही मनुष्य ने रच डाला है।

सृष्टि की सर्वोपरि सत्ता का अधिपति होने के कारण उससे यही आशा की जानी चाहिए कि वह आनंद से परिपूर्ण जीवन–यापन करेगा और उसके संपर्क में जो भी आएँगे, उन्हें आनंद से लाभान्वित करेगा। इतने महत्त्वपूर्ण स्थान और पद पर पहुँचने के बाद निश्चय ही मनुष्य के कंधे पर कुछ उत्तरदायित्व भी आते हैं। उचित यही है कि उन्हें निबाहा जाए। निम्न स्थिति में पड़े हुए जीव का उत्तरदायित्व उतना ही छोटा होता है। यदि वह न करने योग्य काम करे, न सोचने योग्य सोचे तो उसकी प्रतिक्रिया भी सीमित रहेगी, किंतु यदि अधिक सशक्त जीव कुमार्ग पर चल पड़े तो उसकी हानि का क्षेत्र बहुत बढ़ जाता है। क्रुद्ध बकरा उतनी हानि नहीं करता जितनी उन्मत्त हाथी कर सकता है।

जीवन जीने की कला भाग–१ /४१

सत्य पर चलते हुए, अपने उत्तरदायित्वों को निबाहते हुए, सज्जनता का, विवेकशीलता का जो सुसंयत कार्यक्रम अपनाया जाता है, वही श्रेयस्कर होता है। मनुष्य को जो स्थिति और सुविधा प्राप्त है उसका उपयोग यदि वह रचनात्मक विषय में करे तो उसकी प्रतिक्रिया निस्संदेह बड़ी उपयोगी और आनंदवर्धक होगी। जिस बुद्धि ने अन्य जीव–जंतुओं की तुलना में इतना ऐश्वर्य इकट्ठा कर लिया, इतनी प्रगति कर ली, उसके लिए यह क्यों कठिन होना चाहिए कि शांतिमय जीवन स्वयं जिए और दूसरों को जीने दे ? बुद्धिमत्ता का दुरुपयोग करके आज चारों ओर क्लेश और कलह का वातावरण बनाया जा रहा है। सुख–शांति के सारे साधन मौजूद रहते हुए भी दुःखदायक और शोक–संताप की परिस्थितियाँ बनाए हुए हैं।

बुद्धि एक दुधारी तलवार :

विचारशीलता ही मनुष्य की एकमात्र निधि है। इसी आधार पर उसने उच्च स्थान प्राप्त किया है। इस शक्ति का यदि दुरुपयोग होने लगे तो जितना उत्थान हुआ है, उतना ही पतन भी संभव है। जितने सुख–साधन जुटे हैं, उतना ही क्लेश, कलह भी इकट्ठा हो सकता है। बुद्धि, दुधारी तलवार है। वह सामने वाले को भी मार सकती है और अपने को काटने के लिए भी प्रयुक्त हो सकती है। उच्च स्थिति पर पहुँचा हुआ मनुष्य अपने उत्तरदायित्वों को न पहचाने, अपने कर्त्तव्य–धर्म के प्रति आस्थावान् न रहे तो वह अपनी विशेष स्थिति के कारण संसार में भारी अहित करने और भारी अव्यवस्था उत्पन्न करने का कारण बन सकता है। आज यही तो हो रहा है।

मनुष्य को अपने बड़प्पन का, गौरव का अनुभव करना चाहिए। स्वाभिमान एवं आत्मसम्मान का ध्यान रखना चाहिए। क्या सोचें और क्या करें, इस संबंध में उसे बहुत ही दूरदर्शिता के आधार पर अपनी गतिविधियों का निर्धारण करना चाहिए।

जो बुद्धिमत्ता समस्त सृष्टि को चमत्कृत कर रही है, वह अपने निजी जीवन का उचित कार्यक्रम निर्धारित करने में असफल रहे तो इसे एक दुर्भाग्य ही कहा जाएगा। विश्व के भाग्य का निर्माता मनुष्य यदि अपनी समस्या को हल करने के अवसर पर मूर्ख एवं अभागा सिद्ध हो तो इसे एक प्रवंचना ही कहा जाएगा।

मनुष्य स्वयं पतनोन्मुख :

प्रगति के इतने उच्च स्तर पर चढ़ आने के बाद यदि हम पतनोन्मुख गतिविधियाँ अपनाते हैं तो इसमें भारी चोट लगने का, चूर–चूर हो जाने का खतरा मौजूद है। जो जितने ऊँचे से गिरता है उसे उतनी ही चोट लगती है। चौरासी लाख योनियों की मंजिल पार करते–करते चौरासी लाख सीढ़ियाँ चढ़ते–चढ़ते जिसने सबसे ऊपर वाली मंजिल तक पहुँचने की सफलता प्राप्त कर ली है और लक्ष्य की पूर्ति के लिए जिसे केवल एक कदम बढ़ाना ही शेष रह गया है, क्या उसके लिए यही उचित है कि ऊँचे उठने की अपेक्षा नीचे गिरने की बात सोचे ? आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने बारे में भी सोचें, अपने लक्ष्य की भी चिंता करें। समस्त जीवों की तुलना में अधिक ऊँची स्थिति प्राप्त करके भी, अपार सुख–साधनों की उपलब्धियाँ प्रस्तुत रहने पर यदि हम दुःख, दारिद्र्य से घिरे हैं, शोक–संताप में डूबे हैं तो इसमें हमारी कोई भारी भूल ही कारण हो सकती है। उस भूल को जितनी जल्दी खोजना और हटाना संभव हो सके, उतना ही हमारा कल्याण संभव होगा।

उन्नति की अभिलाषा मानवी प्रगति का कारण :

जो भी जीवित है, सजग है, सचेत तथा स्वस्थ मस्तिष्क वाला है, उसे निरंतर बढ़ने, महान् बनने की इच्छा रहती है। जो व्यक्ति जिस स्थिति में है उससे ऊपर उठने का प्रयत्न करे यही वास्तविक कर्मशीलता है। उन्नति की अभिलाषा ही अधिकांश में मनुष्य की क्रियाशीलता को उत्तेजित करती है। सामान्य

व्यक्ति को ही क्यों न देख लिया जाए, चाहे यह रोटी–दाल तक ही क्यों न सीमित हो, तब भी वह आज की अपेक्षा कल अच्छी रोटी पाने की कामना रखता है। जिसमें अपनी वर्तमान स्थिति से आगे बढ़ने की इच्छा नहीं है, उसे एक प्रकार से मृत ही मानना चाहिए। अगति जड़ता का लक्षण है, जीवन का नहीं। जो जीवित है, वह एक स्थान पर खड़ा ही नहीं रह सकता। जीवन में आगे बढ़ना, प्रगति करना कोई आकस्मिक घटना नहीं है और न यह कोई स्वाभाविक प्रक्रिया है, जिसके प्रवाह में कोई आगे बढ़ ही जाएगा। आगे बढ़ना, उन्नति करना एक सुनियोजित कर्त्तव्य है। मनुष्य अपने बल पर संघर्ष करता हुआ एक–एक कदम ही आगे बढ़ पाता है। **इस भीड़ से भरी दुनियाँ में जहाँ लोग एक–दूसरे को धकेलकर अपना स्थान बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं, वहाँ किसी लक्षित स्थान पर पहुँच सकना कोई ऐसा काम नहीं है, जो यों ही बैठे–बैठाए हो जाएगा। इसके लिए मनुष्य को परिश्रम, पुरुषार्थ तथा त्याग और तपस्या करनी पड़ेगी।** जो संघर्ष भीरु है, स्वार्थी है, सुखलोलुप और पलायनवादी है, वह कभी भी उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। उन्नति और प्रगति कर्मवीरों का ही लक्ष्य है।

भौतिक प्रगति वास्तविक उन्नति नहीं :

संसार में उन्नतियाँ, प्रगतियाँ तथा सफलताएँ असंख्यों प्रकार की हो सकती हैं। नित्य ही लोग उन्नति करते देखे जाते हैं। छोटी सी दुकान बड़ी फर्म में बदल जाती है, मशीन मिस्त्री, मिल मालिक बन जाता है। झोंपड़ी में रहने वाला कोठी पा लेता है और निर्धन धनवान बन जाता है। संसार में नित्य ही परिवर्तन होते रहते हैं, किंतु इनको वास्तविक उन्नति नहीं कहा जा सकता। वास्तविक उन्नति वह है जिसमें अवनति अथवा ह्रास का कोई अवसर न हो। जिस प्रकार मनुष्य निर्धन से धनवान बनता है, उसी प्रकार धनवान से निर्धन बन सकता है। कोठी

बिक सकती है, मिल मिट सकती है और फर्म बंद हो सकती है। इस प्रकार की उन्नतियाँ सांसारिक व्यवहार तथा गतिविधियों के फल हैं। पुरुषार्थ तथा परिश्रम का समन्वय होने पर भी ये उन्नति की उस कोटि में नहीं आतीं, जिनके आधार पर कोई व्यक्ति महान कहा जाता है। मनुष्य की महानता कोई सामयिक वस्तु नहीं है कि आज वह है, कल न रहेगी। **पतन तथा परिवर्तन से मुक्त उच्चता ही वास्तविक उन्नति है, महानता है। इस प्रकार की महानताएँ केवल वे ही व्यक्ति प्राप्त कर सकते हैं, जिनके जीवन का प्रत्येक क्षण परहित के लिए ही होता है।** जो मनुष्य मात्र की उन्नति के लिए अपने जीवन का दाँव लगा देते हैं। जो अपना सर्वस्व समष्टि को समर्पित कर देते हैं, वे ही उच्च शिखर पर पहुँचते हैं, जहाँ से पतन की कोई आशंका नहीं रहती।

उच्चता के उन्नत शिखर पर पहुँचने के लिए मनुष्य को अपने जीवन को सुघड़ साँचे में ढालना होता है। जो अपने जीवन को सुघड़, सुंदर और समृद्ध नहीं बना सकता, वह कितना ही प्रतिभावान, धनवान और ज्ञानवान क्यों न हो महानता की कोटि में नहीं पहुँच सकता।

महानता के पाँच सोपान :

महानता के उपयुक्त साँचे में ढलने के लिए मनुष्य को सबसे पहले अपने व्यक्तित्व का विकास करना होगा। जिसका व्यक्तित्व अविकसित है, अपूर्ण है, वह बहुत कुछ आगे बढ़ जाने पर भी पीछे हट सकता है। जब तक उसे निम्न अथवा समकक्ष व्यक्तियों से पाला पड़ता रहेगा, तब तक तो वह बढ़ता जा सकता है, किंतु ऊँचा व्यक्तित्व सामने आते ही उसे ठिठक जाना पड़ेगा, अथवा जब वह सामान्य समूह से ऊपर उठकर उच्चस्तरीय समाज में पहुँचेगा तब उसके व्यक्तित्व के दब जाने की संभावना रहेगी।

व्यक्तित्व का विकास :

उन्नति के प्रथम सोपान–व्यक्तित्व को पूर्ण विकसित कर लेना बहुत आवश्यक है। व्यक्तित्व के विकास की सबसे पहली शर्त है, स्पष्ट एवं असंदिग्ध होना। मनुष्य जो कुछ है वह साफ दिखाई देना चाहिए, जो साफ नहीं दिखाई देता, वह समाज का विश्वासपात्र नहीं बन पाता। ईमानदार होते हुए भी लोग उसे गैर–ईमानदार तथा महान् होने पर भी निम्न समझ सकते हैं। व्यक्तित्व की दूसरी शर्त है–समता। मनुष्य जो स्वरूप समाज के सामने रखता है उसका आचरण भी वैसा होना चाहिए। दूसरों को कितना ही सन्मार्ग दिखलाने वाला, कितना ही हित चाहने वाला, यदि अपने निजी आचरण में यथावत् नहीं है, तो लोग उसे छली, मतलबी अथवा स्वार्थी समझ कर दूर भागेंगे। व्यक्तित्व की तीसरी शर्त है–शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता, सुघड़ता, शिष्टता, सभ्यता आदि गुण। जो अशिक्षित हैं, रोगी हैं, मलीन अथवा अनपढ़ हैं, लोग सहज ही उसकी ओर आकर्षित नहीं होते। किसी भी फूहड़ अवस्था में फूहड़ भाषा अथवा फूहड़ शैली में कितनी ही महान् एवं हितकारी बात क्यों न कही जाए, कोई उसे सुनना पसंद न करेगा और यदि उसकी बात सुनी भी जाएगी तो उपहास की दृष्टि से, जिसका न कोई प्रभाव होगा और न फल।

शक्ति :

उन्नति का दूसरा सोपान–शक्ति है। जिसका शरीर, मन और आत्मा शक्तिशाली है, वह ही उन्नति के पथ पर आए अवरोधों से टकरा सकता है। समाज विरोधी तत्वों से मोर्चा ले सकेगा। जो निर्बल हैं, साहसहीन हैं, वह एक छोटे से विरोध को भी सहन न कर सकेगा और शीघ्र ही मैदान छोड़कर भाग जाएगा। जो संयमी हैं, ज्ञानवान् हैं, निःस्पृह और निःस्वार्थ हैं, मन, प्राण, शरीर और आत्मा उसके ही समर्थ हो सकते हैं।

इसके विपरीत जो असंयमी हैं, अज्ञानी हैं, लिप्सु और लोलुप हैं, उसका निर्बल होना निश्चित है, अटल है।

अनुशासन :

उन्नति का तीसरा सोपान है—अनुशासन। जो व्यक्ति अनुशासनहीन है, अस्त—व्यस्त है, बिखरे मन, चंचल बुद्धि और कंपित आत्मा वाला है, उसके विचारों तथा कर्मों में वांछित तेज नहीं आ पाता, जिसके अभाव में वह जनमानस में प्रवेश कर सकने में असफल रहता है। मन जीते बिना जन समुदाय को अनुशासित रखकर उपयुक्त दिशा में नहीं चलाया जा सकता। **अनुशासनहीन व्यक्ति कितना ही शक्तिशाली, प्रतिभाशाली और प्रतापी क्यों न हो किसी को अपने वश में नहीं रख सकता। उन्नति के इच्छुक व्यक्ति के लिए आत्मानुशासन उतना ही आवश्यक है जितना समुद्र के लिए मर्यादा।**

पुरुषार्थ :

उन्नति का चौथा सोपान है—परिश्रम तथा पुरुषार्थ। इन दोनों गुणों से रहित व्यक्ति आलसी, प्रमादी तथा दीर्घसूत्री होता है। उन्नति के पथ में पहाड़ जैसे अवरोध हैं। उन्नति पथ के पथिकों के लिए क्या दिन, क्या रात, क्या गर्मी क्या धूप सब समान होती हैं। उनके पास हर समय काम रहता है और हर समय उस काम का समय है। जो आलसी है, प्रमादी और दीर्घसूत्री है, वह आज के काम को कल पर टालेगा, दूसरों पर निर्भर रहेगा। ऐसी दशा में उन्नति के शिखर पर चढ़ने का उसका स्वप्न अधूरा ही रहेगा।

निष्काम कर्मभाव :

उन्नति का पंचम सोपान है—निष्काम कर्मभाव। निष्काम कर्मभाव के बिना कोई भी व्यक्ति ईमानदारी से काम नहीं कर सकता। कभी उसे सफलता—असफलता आंदोलित करेगी, कभी निंदा रुष्ट और प्रशंसा प्रसन्न करेगी, महान् पथ पर जिस राग—

द्वेष से रहित होना आवश्यक है, बिना निष्काम-कर्मभाव के उसकी उपलब्धि संभव नहीं और यह निष्काम कर्मभाव तभी प्राप्त हो सकता है, जब मनुष्य अपने प्रत्येक कर्त्तव्य को परम प्रभु का आदेश समझकर उसकी शक्ति से ही, उसके लिए ही करता हुआ अनुभव करे। जो अपने प्रत्येक कर्म को परमात्मा का ही काम समझकर करेगा, वह उसे पूर्ण दक्षता, पूर्ण मनोयोग तथा पूर्ण श्रद्धा से करेगा जिसके फलस्वरूप उसे उस सर्वशक्तिमान् से सामर्थ्य एवं शक्ति प्राप्त होती रहेगी। जिसने अपनी सीमित शक्ति को ईश्वर की परम शक्ति में तिरोधान कर दिया है, वह उन्नति के किस शिखर पर पहुँच सकता है, यह बतलाना कठिन है।

इस प्रकार जो व्यक्ति उन्नति के इन पाँचों सोपानों पर पाँव रखता हुआ आगे बढ़ता है, वह निश्चय ही उस महानता को प्राप्त कर लेता है जिसका न ह्रास होता है और न पतन। ऐसी ही महानता के पद पर प्रतिष्ठित महापुरुषों को इतिहास लिखता है और संसार याद करता है।

क्या किया जाए ? :

हम मानव हैं अतः हमें बुद्धि भी प्राप्त है। हम अपनी बुद्धि का उपयोग केवल स्वयं अथवा अपने परिवार के लिए भौतिक सुख-सुविधाएँ जुटाने में तो नहीं लगा रहे हैं, इस ओर हमारी सतर्कता आवश्यक है। सुबह से रात तक कोल्हू के बैल की भाँति चक्कर लगाते रहे तो अंत में हम स्वयं को वहीं के वहीं खड़े पाएँगे। हमारी सारी बुद्धि-चातुर्य उसी में लग जाएगी और महानता की ओर हम एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकेंगे। हमें विचारना है कि किस प्रकार महानता के पाँच सोपानों पर निरंतर ऊँचे चढ़ते रहने के लिए हम अपनी क्षमताओं का उपयोग कर सकते हैं।

यूनिट-८

आत्म-निरीक्षण

बहिर्मुखी स्थूल-संरचना :

आत्म विकास एवं आत्म परिष्कार में आत्म निरीक्षण बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है। मनुष्य की स्थूल संरचना बहिर्मुखी है। उसके अंग–अवयव बाहर की ओर निकले हुए हैं। हाथ, पैर धड़ से बाहर लटकते हैं। कान, नाक, होंठ आदि की बनावट भी ऐसी ही है। समूचे शरीर का बाहरी भाग ही दीख पड़ता है। आँखें बाहर के दृश्य देखती हैं। कान बाहर के शब्द सुनते हैं। नाक बाहर से आने वाली सुगंध को सूँघती है। मस्तिष्क बाह्य जगत की हलचलों, सुविधाओं और कल्पनाओं की उड़ानें भरता रहता है। हम बाहर के लोगों से निपटने और उनके साथ संबंध बनाने, बिगाड़ने की, उससे इच्छित लाभ उठाने की बात सोचते हैं। मन और इंद्रियाँ भी बहिर्मुखी हैं. हम बाह्य जगत को देखते हैं, किंतु अंतरात्मा को अनदेखा कर देते हैं। बहिर्मुखी होना मन की अत्यधिक हानिकारक आदत है। यह बहिर्मुखी प्रवृत्ति इतनी प्रगाढ़ हो जाती है कि उसके अतिरिक्त और कुछ करना तो दूर सोचना तक संभव नहीं हो पाता है।

वास्तविक मानवी सत्ता भीतर है :

मनुष्य की वास्तविक सत्ता बाहर नहीं भीतर है। पेड़ की जड़ें जमीन में भीतर धँसी होती हैं। वे दीखती नहीं तो भी पेड़ का समग्र पोषण उन्हीं पर निर्भर रहता है। वे सुदृढ़ होती हैं। गहराई तक घुसी होती हैं। पर्याप्त खाद पानी जमीन से खींच सकने में समर्थ होती हैं, तो पेड़ का बाह्य कलेवर सुविकसित होता है, फलता–फूलता है, दीर्घजीवी बनता है, आँधी तूफानों का सामना करते हुए अपनी सत्ता बनाए रहता है, किंतु यदि जड़ों की स्थिति दुर्बल हो, वे गहराई तक प्रवेश न करें और समुचित खुराक खींचने में असमर्थ रहें तो यह भी निश्चित है कि

वृक्ष का विकास संभव न हो सकेगा । वह गई–गुजरी स्थिति में रहकर अपना असमय ही दम तोड़ देगा । मनुष्य के संबंध में भी यही बात शत–प्रतिशत लागू होती है ।

हृदय, मस्तिष्क, यकृत, गुर्दे ,आदि धड़ के भीतर खोखले में हैं । उसी गह्वर में भ्रूण बनते और परिपक्व होते हैं । यह भीतर की स्थिति जब तक बनी रहती है, तब तक कायिक स्वास्थ्य और सौंदर्य भी ठीक बना रहता है, किंतु यदि भीतर गड़बड़ी रहे तो हाथ–पैर जैसे बाह्य अवयवों के सहारे जीवन रथ की गाड़ी धकेलना कठिन पड़ेगा । चेहरे का सौंदर्य पिलपिला जाएगा ।

व्यक्तित्व की विशिष्टता का, वरिष्ठता का, उत्कृष्टता का, सुसंस्कारिता का जहाँ तक संबंध है, वे अंगों, अवयवों की सुदृढ़ता पर निर्भर नहीं है । प्रतिभावानों का शरीर मोटा–तगड़ा हो यह आवश्यक नहीं । स्कूल–शिक्षा के सहारे क्लर्की मिल सकती है, किंतु महामानव स्तर की गरिमा का व्यक्तित्व के साथ जुड़ा होना ही अनेकानेक सफलताओं का आधारभूत कारण होता है । अंतराल की गहराई में रहने वाली यह गरिमा यदि गए–गुजरे स्तर की हो तो व्यक्ति समर्थ और कुशल होने पर भी चोरी, ठगी, बेईमानी, बदमाशी के अतिरिक्त और कुछ कर न सकेगा । इस निकृष्टता के कारण उसे आए दिन अपने स्थान और मुखौटे बदलने पड़ेंगे । एक दिशा में, एक क्षेत्र में प्रामाणिकता, पारंगतता प्राप्त करने का जो सुयोग मिलना चाहिए, उससे उसे वंचित ही रहना पड़ेगा । गुण, कर्म, स्वभाव ही मनुष्य के मूल्यांकन का एक मात्र सुनिश्चित आधार है ।

अंतर्मुखी होने की आवश्यकता :

बाहरी जाल–जंजाल में तो सभी उलझे रहते हैं, पर ऐसे कोई विरले ही होते हैं, जो अंतर्मुखी होने की आवश्यकता अनुभव करते हैं, आत्मसमीक्षा में निष्पक्ष न्यायाधीश जैसी तीक्ष्णता बरतते हैं, जो त्रुटियाँ देख पाते हैं, उनके सुधार में

समग्र संकल्प शक्ति के साथ संलग्न होते हैं । जिन सत्प्रवृत्तियों की कमी है उन्हें महामानवों की जीवनचर्या के साथ तुलना करते हुए समझने का प्रयत्न करते हैं कि किन अवरोधों के कारण व्यक्तित्व का ऐसा विकास न हो सका जो प्रामाणिक समझा जाता, अभीष्ट सफलताओं का वरण करता । जिन सद्गुणों की अपने में कमी दीखती है उनका अभिवर्द्धन करते रहना ही आवश्यक है । मात्र दुर्गुणों को उखाड़ते रहना ही काफी नहीं है । खेत को जोतते तो रहा जाए, पर उसमें उपयोगी बीज बोने, सींचने का प्रबंध न किया जाए तो बहुमूल्य धन-धान्य से कोठे किस प्रकार भर सकेंगे ?

आत्मिक प्रगति के लिए :

आत्मिक प्रगति के लिए यही अवलंबन सर्वश्रेष्ठ है कि अंतर्मुखी होकर, आत्म-निरीक्षण की पद्धति को अपनाया और विकसित किया जाए । यह कार्य सरल नहीं कठिन है, पर अभ्यास से सब कुछ हो सकता है । अपने रोग के लक्षण तो अनुभूतियों के आधार पर समझ में आते हैं, पर उसका कारण, निदान, उपचार करने के लिए ऐसा परीक्षक चाहिए जो स्थिति को गहराई से समझ सके और उपचार कर सके । आत्मिक प्रगति के संबंध में रोगी को ही निदान, उपचार करना होता है । इसके लिए अंतर्मुखी आत्म-निरीक्षण ही काम आता है ।

दृढ़ मनोबल के लिए :

आत्मनिरीक्षण का कार्य इस दृष्टि से करें कि गलत अंदाज लगाने से उठने वाली दुर्भावनाएँ हमारे स्वास्थ्य को खराब करेंगी । इससे हमारी सामाजिक प्रतिष्ठा गिर जाएगी, लोग बुरा कहेंगे और हमसे कोई भी आत्मीयतापूर्ण व्यवहार नहीं करेंगे । इस प्रकार सोचने से आपको सही बात का समर्थन करने में किंचित हिचक व संकोच नहीं होगा । इससे आपका मनोबल बढ़ेगा, शक्ति आएगी, प्रसन्नता होगी और स्वास्थ्य भी स्थिर बना रहेगा ।

उदात्त दृष्टिकोण के लिए :

क्षुद्र व्यक्ति मात्र संकीर्ण स्वार्थपरता की बात ही सोचते हैं । पेट–प्रजनन की मृग–तृष्णा में भटकते रहने के अतिरिक्त उनके श्रम, समय का उपयोग किन्हीं उच्च प्रयोजनों के लिए लग ही नहीं पाता । आत्म विकास के संबंध में कहा–सुना तो बहुत कुछ जाता है, पर वास्तविकता यह है कि जिसका दृष्टिकोण उदात्त है, जिसे दूसरों का हित भी अपने हित के समान ही महत्त्वपूर्ण लगता है, जो छोटे परिवार की चिंता में ही निरत न रहकर विशाल मानव परिवार की, विश्व परिवार की, बात सोचता है, उसी के संबंध में कहा जा सकता है कि वह दिव्य दृष्टि का अधिकारी बना । विश्व परिवार की अवधारणा वाला व्यक्ति ही संकीर्णता की परिधि से ऊँचा उठकर परमार्थी बन सकता है । जिसने परमार्थ को ही सर्वोत्तम स्वार्थ बना लिया वस्तुतः वही आत्मवादी है । उसी का आत्म–विकास हुआ समझा जाना चाहिए ।

व्यक्तित्व परिष्कार के लिए :

बहिर्मुखी दृष्टिकोण से हम प्रकृति के, पदार्थ के अनेकानेक पक्षों को जान सकते हैं । स्कूलों में यह सब पढ़ाया और पुस्तकों में यह सब बताया भी जाता है । पर्यटन एवं संपर्क परामर्श से इस दिशा में अतिरिक्त जानकारी प्राप्त की जा सकती है । इन दिनों अखबार, रेडियो, टेलीविजन आदि के सहारे भी सांसारिक गतिविधियों, रीति–नीतियों के संबंध में भी बहुत कुछ जाना जा सकता है, किंतु मौलिक प्रश्न निजी व्यक्तित्व के परिष्कार का है । इसके बिना किसी के लिए यह संभव नहीं कि प्रगति के पथ पर द्रुतगति से अग्रसर हो सके और किसी ऊँचे लक्ष्य तक पहुँच सके । चिंतन, चरित्र और व्यवहार ही मनुष्य की चेतन संपदाएँ हैं । इन्हीं के सहारे किसी के लिए सर्वतोन्मुखी प्रगति की दिशा में अग्रसर बने रहना संभव हो सकता है ।

आत्म-निरीक्षण सटीक एवं सर्वाधिक प्रभावशाली :

इस प्रयोजन के लिए अंतर्मुखी होने की प्रवृत्ति का पनपना आवश्यक है । बाहर से किसी व्यक्ति, पदार्थ या घटनाक्रम की समीक्षा हो सकती है । उसके गुण, दोषों का निर्णय–निर्धारण किया जा सकता है । इस संदर्भ में दूसरों की सलाह भी काम दे सकती है, पर अपने आप के संबंध में यह संभव नहीं है । कारण कि दूसरा किसी दूसरे की अंतरंग वस्तुस्थिति को समझ नहीं सकता । बाह्य गतिविधियों का एक अंश ही सामने आता है । सदा किसी के साथ रहना और व्यक्तित्व की समग्र समीक्षा कर सकना संभव नहीं होता, क्योंकि अक्सर लोग अपना बाहरी स्वरूप कुछ दूसरा रखते हैं। भीतर से वैसे नहीं होते जैसे कि अपने को प्रकट करते हैं। ऐसी दशा में समीक्षकों को गहराई तक प्रवेश न कर पाने के कारण बहुधा धोखा ही रहता है। जब वास्तविकता का पूरा पता ही नहीं लग पाता तो सही समीक्षा कैसे बन पड़े और सुधार, परिष्कार का परामर्श दे सकना कैसे बन पड़े ? फिर कोई किसी के परामर्श को किस हद तक स्वीकार, कार्यान्वित कर सकता है, इसका निश्चय करना सहज नहीं बन पड़ता । इसके लिए अपनी ही परख और सलाह कारगर हो सकती है। अपने संबंध में अपना निर्णय ही सटीक बैठ सकता है। स्वामी शिवानंद जी कहते हैं कि अंतर्निरीक्षण में मन ही स्वाध्याय का विषय होता है। मन का एक भाग शेष मन का अध्ययन करता है। उच्च मन निम्न मन की परीक्षा करता है। अंतर्निरीक्षण ही आत्मबोध है। जैसे आप मजदूर का काम देखते हैं, इसी प्रकार मन का एक अंश शेष मन की क्रियाओं को देखता है। यही आत्मनिरीक्षण ही सही विधि है तथा इसका प्रभाव भी अधिक होता है।

आत्म निरीक्षण कैसे करें ? :

यदि आप अपनी कमियों का सही–सही निवारण चाहते हैं, यदि आप दुष्चिंतन एवं दुर्भावों से बचना चाहते हैं और आत्म परिष्कार के माध्यम से सामाजिक प्रतिष्ठा पाना चाहते हैं, यदि

आप दृढ़ मनोबल के द्वारा जीवन में सफल होना चाहते हैं, तो सोने के पूर्व प्रतिदिन आत्म निरीक्षण करने की आदत डालिए। सोचिए कि आज आपने क्या बुराई की ? कौन–कौन से दुष्ट विचार आपके मनःक्षेत्र में प्रविष्ट हुए ? आज आपसे कौन पाप हुआ ? किस–किस की निंदा की ? किससे ईर्ष्या की ? किसकी चुगली खाई ? किस का जी दुखाया ? अपने प्रत्येक कार्य को याद कीजिए तथा उन पर बार–बार विचार कीजिए । जो जो पाप हुए हों उनके लिए हार्दिक पश्चाताप कीजिए तथा भविष्य में कभी न करने का संकल्प कीजिए । प्रतिमास पुनः अपनी परीक्षा करें। देखें आप अपनी विद्या, बुद्धि, योग्यता तथा सामर्थ्यों में कहाँ तक बढ़े हैं ? कौन–कौन निर्बलताओं ने आपको अस्त–व्यस्त किया है ? कितना मार्ग और तय करना शेष रह गया है ? आपने कहाँ से, किस उद्देश्य से, जीवन यात्रा आरंभ की थी ? कहाँ तक आप सफलता प्राप्त कर सके । हम यहाँ आत्म परीक्षा के निमित्त कुछ प्रश्न प्रस्तुत कर रहे हैं। इन सभी प्रश्नों पर मूल्यांकन करना चाहिए। इन प्रश्नों को पृथक् एक नोट बुक में लिख लीजिए और प्रत्येक मास की पहली तारीख को सच्चाई के साथ नंबर देने चाहिए। इस प्रकार चलने से वर्ष के उपरांत देखिए कि उन्नति की दौड़ में आप कितने आगे बढ़ गए हैं।

स्वास्थ्य संबंधी प्रश्न समूह :

क्या मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ ? क्या मुझे भूख खुलकर लगती है ? क्या मुझे शौच कर्म ठीक–ठीक होता है ? क्या मैं नियमित रूप से ब्रह्ममुहूर्त में शय्या त्याग करता हूँ ? क्या मेरे शरीर में स्फूर्ति रहती है ? दिन भर में मेरा कितना व्यायाम हो जाता है ? मुझे अर्श, शोथ, संग्रहणी, ज्वर, कब्ज, कृमि, खाँसी, बहुमूत्र, रक्त–पित्त, कानों का रोग इत्यादि में से कोई रोग तो नहीं है ? मैंने इस मास कितनी बार स्त्री प्रसंग किया ? क्या मुझे स्वप्न दोष होता है ? मैं किन–किन मादक द्रव्यों को छोड़ चुका हूँ ? मेरे भोजन में विटामिन, दूध, दही, शहद, फल व तरकारियों की मात्रा कितनी बढ़ रही है ? क्या मैं शक्ति संचय के पथ पर हूँ ?

बुद्धि संबंधी प्रश्न समूह :

क्या मैं अपने साथियों की दृष्टि में बुद्धिमान् हूँ ? क्या मेरे मन में उच्च विचार आते हैं ? क्या मैं भूत, भविष्य की बातें सोचा करता हूँ ? क्या मैं बुरे विचारों को रोकने में समर्थ हूँ ? क्या मैं दृढ़ निश्चय करता हूँ ? क्या मुझे प्रलोभन विचलित कर देते हैं ? क्या मैं सदा न्याय का पक्ष लेता हूँ ? क्या मैं अपनी उत्तम प्रेरणाओं को जीवन में प्रकट कर रहा हूँ ? क्या मैं अपनी बुद्धि की वृद्धि कर रहा हूँ ? इस मास में मैंने कितना ठोस साहित्य पढ़ा तथा नित्य प्रति के जीवन में कितना प्रयोग किया ?

आध्यात्मिक उन्नति संबंधी प्रश्न समूह :

क्या मुझे आत्मा, ईश्वर तथा अपने सामर्थ्यों में विश्वास है ? क्या मैं अशांत, विक्षुब्ध तथा चंचल रहता हूँ ? क्या मैं अपना अधिकांश समय श्रृंगार, प्रमोद, क्रीड़ा में ही व्यर्थ बरबाद कर देता हूँ ? क्या में इंद्रियों पर पूर्ण अधिकार रखता हूँ ? मेरा मन किन–किन भावनाओं से भरा रहता है ? मैं कितना समय जप, योग, नियम, प्रार्थना, संध्या, पूजन में व्यतीत करता हूँ ? क्या मैं अनासक्त होकर संसार के समस्त कार्य करता हूँ ? क्या मेरे अंतःकरण में सद्बुद्धि का राज्य है ? मैं अपनी आत्मा में कितनी देर लीन हो सकता हूँ ? क्या संसार की हलचलें मेरी मनःशांति को भंग कर देती हैं ? मैं अब कितनी देर चित्त संयम कर लेता हूँ ?

समाज संबंधी प्रश्न समूह :

क्या मैं बिना हिचकिचाहट के समाज के सामने अपने भाव रख लेता हूँ ? क्या मेरे रहने का ढंग ? वस्त्राभूषण, व्यवहार, आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं ? क्या मेरा विचार समाज की कुरीतियों, रूढ़ियों, मिथ्यावादों को उखाड़ने का है ? क्या मैं अपनी आवश्यकता की वृद्धि कर रहा हूँ ? इस बार मैंने कितना धन दान में दिया है ? क्या लोग मेरा आदर करते हैं ? क्या मुझसे बात करने को उत्सुक रहते हैं ? मेरे मित्र कौन–कौन हैं ? उनके चरित्रों में कौन–कौन सी विशेषताएँ

हैं ? क्या परदोष दर्शन में विरत रहता हूँ ? क्या मैं दूसरों के दृष्टिकोणों को सहानुभूति पूर्वक देखता हूँ ? मैं कौन से कार्य समाज सेवा की दृष्टि से कर रहा हूँ ?

विविध विषयक प्रश्न समूह :

क्या मुझे ईश्वर में अखण्ड विश्वास है ? इस मास मुझे कौन–कौन से विचित्र अनुभव हुए हैं ? क्या मैं खरा हूँ ? चापलूस हूँ ? खुदगर्ज हूँ ? व्यभिचार की ओर आकर्षित तो नहीं हो रहा हूँ ? क्या मैं अपने जीवन को निरर्थक, अनुचित तथा अनुपयोगी कार्यों में व्यय कर रहा हूँ ? क्या मेरे जीवन में सुख शांति, समृद्धि है ? क्या मैं सच्चे हृदय से मंदिर, गिरजे तथा मस्जिद में जाता हूँ ? क्या मेरा जीवन प्रेम के सिद्धांत पर अवलंबित है ? क्या मैं प्रत्येक वस्तु में ईश्वर का दर्शन करता हूँ ? अभी तक मैंने कौन–कौन से अच्छे कार्य किए हैं ?

क्या किया जाए ? :

याद रखिए, आपसे बड़ा आपके मन का निर्णायक और कोई नहीं है। बस आज से ही उत्तम प्रश्नों को डायरी में लिख लीजिए। प्रतिदिन सोने से पूर्व अपने कमरे में शांत भाव से आज की गई अपनी गलतियों का आत्मावलोकन करें, कल उन्हें पुनः न दुहराने का संकल्प लें । प्रत्येक माह के अंतिम दिन डायरी में लिखे प्रश्नों के समक्ष ईमानदारी और विशुद्ध भावना से स्वमूल्यांकन कीजिए और फिर देखिए प्रत्येक सायंकाल किए गए आत्म निरीक्षण एवं लिए गए संकल्प का कैसा चमत्कारी प्रभाव होता है ? **किसी दिन आवेश में आकर उन्नति के लिए एकदम प्रयत्न करने के लिए कमर कस कर जुट जाना बहुत आसान है, परंतु नित्य अबाध गति से शनैः शनैः बढ़ते जाना आत्मनिरीक्षक के लिए ही संभव है।**

जीवन जीने की कला

भाग-2

गिरे हुओं को उठाना, पिछड़े हुओं को आगे बढ़ाना, भूले को राह बताना और जो अशांत हो रहा है उसे शांतिदायक स्थान पर पहुँचा देना, यह वस्तुतः ईश्वर की सेवा ही है। जब हम दुःखी और दरिद्री को देखकर व्यथित होते हैं और मलीनता को स्वच्छता में बदलने के लिए बढ़ते हैं, तो समझना चाहिए कि यह कृत्य ईश्वर के लिए, उसकी प्रसन्नता के लिए ही किए जा रहे हैं।

-पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

यूनिट-१ अंतःकरण का विकास

व्यक्तित्व की उत्कृष्टता अंतराल के स्तर पर निर्भर :

आत्म–निरीक्षण एवं स्वमूल्यांकन आत्मविकास के लिए बहुत उपयोगी होता है । यह विकास धीमी गति से किंतु स्थाई होता है। आत्म–विकास वस्तुतः व्यक्ति के अंतःकरण का विकास ही है। मनःशास्त्री अब इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि व्यक्तित्व की उत्कृष्टता–निकृष्टता का केंद्र बिंदु उसके अंतराल का स्तर ही है। मनःसंस्थान की इस सबसे गहरी–अंतिम परत को सुपर चेतन कहा गया है। सुपर इसलिए कि उसकी मूल प्रवृत्ति मात्र उत्कृष्टता से ही भरपूर है। उसे यदि अपने वास्तविक स्वरूप में रहने दिया जाए, अवांछनीयताओं के घेरे में जकड़ा न जाए तो वहाँ से अनायास ही ऊँचे उठने, ऊँचे बढ़ने की ऐसी प्रेरणाएँ उठेंगी जिन्हें आदर्शवादी या उच्चस्तरीय ही देखा जा सकेगा। प्रकारांतर से सुपर चेतन को ईश्वर के समतुल्य ही माना जा सकता है। वेदांत दर्शन में अयमात्मा ब्रह्म–प्रज्ञानं ब्रह्म–चिदानंदोहम्–शिवोहम्–तत्वमसि–आदि सूत्रों में जिस आत्मा को परमतत्व परमात्मा माना है, वह परिष्कृत अंतःकरण ही है। उसी को विज्ञान की भाषा में सुपर चेतन कहते हैं। इसी परत को विकसित करने के लिए भक्ति योग का आश्रय लिया जाता है। कर्मयोग में शरीर, ज्ञानयोग में मस्तिष्क और भक्तियोग में अंतःकरण की साधना की जाती है। अंतःकरण को ब्रह्मा, मनःसंस्थान को विष्णु और काय कलेवर को रुद्र की उपमा दी गई है। यही तीनों त्रिदेव हैं, जिनके वरदान–अभिशाप पर सारी संभावनाएँ अवलंबित हैं।

जीवन जीने की कला भाग–२ /३

मनोवैज्ञानिकों के प्रयास :

मनोविज्ञानी मन:संस्थान को अत्यधिक महत्व देते हैं और उसे अचेतन से भी कहीं अधिक उच्चस्तरीय मानते हैं। कार्य–कौशल से लोक व्यवहार बनता है। बुद्धि वैभव से उपयुक्त निर्णय होते हैं, किंतु अंत:करण तो समूचे व्यक्तित्व का ही अधिष्ठाता है। उसकी परिष्कृत स्थिति ही सामान्य स्थिति के मनुष्य को महामानव, ऋषि, देवात्मा, देवदूत स्तर तक पहुँचाने में समर्थ होती है। अपने ही भीतर विद्यमान इस देवलोक का माहात्म्य अध्यात्मवेत्ता सदा से ही बताते और उसकी अनुकंपा उपलब्ध करके जीवन लाभ लेने वाले विभिन्न प्रतिपादनों द्वारा समझाते रहे हैं। सिद्धांत और प्रयोग दोनों ही इन प्रयोजनों के लिए उनने गढ़े–परखे और प्रचलित किए हैं। मनोविज्ञानी, नीति शास्त्री, तत्व–विज्ञानी, समाज शास्त्री, भौतिकवादी सभी इस मिले–जुले निष्कर्ष पर पहुँच रहे हैं कि पतन पराभव से छूटने और वरिष्ठता, उत्कृष्टता उपलब्ध करने के लिए, 'सुपर चेतन' की उच्चस्तरीय परतें खोजी, कुरेदी जानी चाहिए। मूर्धन्य स्तर के मनीषी इस बात पर जोर दे रहे हैं कि अचेतन में असंख्य गुनी उच्चस्तरीय संभावनाओं से भरे पूरे सुपर चेतन को नए सिरे से समझा–खोजा और उसके अभ्युदय का अभिनव प्रयास किया जाए। वे मानने लगे हैं कि उस क्षेत्र की उपलब्धियाँ व्यक्ति और समाज में उच्चस्तरीय परंपराओं का समावेश कर नए युग का नया सूत्रपात कर सकने में समर्थ हो सकती हैं। 'एमिली मारकाल्ट' ने अपनी पुस्तक "साइकोलाजी ऑफ इन्ट्यूशन" में अंत:करण की चर्चा करते हुए कहा है–"यह शरीर एवं व्यक्तित्व की चेतना का अति सूक्ष्म एवं उच्चस्तरीय" भाग है। ज्ञानेंद्रियों और तर्कबुद्धि से जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं, उनसे भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण समाधान उच्चचेतन मन की

सहायता से मिल सकता है । इस तंत्र को उजागर कर लेने का अर्थ है एक ऐसे देवता का साथ पा लेना जो उपयोगी सलाह ही नहीं देता, वरन् महत्वपूर्ण सहायता भी करता है ।''

उच्चचेतन का महत्कार्य :

'हम्फ्री' अपनी पुस्तक 'वेस्टर्न एप्रोच टु मैन' में कहते हैं कि बुद्धि वैभव के माध्यम से अब तक संसार की जो सेवा हुई है उसकी तुलना में उच्चचेतन की सहायता से थोड़े से लोगों ने जो कार्य किया है, उसकी तुलना नहीं हो सकती । एक महामानव हजार प्रवक्ताओं से बढ़कर होता है । इसी प्रकार एक महा मनस्वी के द्वारा बनाया गया वातावरण हजारों अधिकारियों तथा अध्यापकों की तुलना में अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध होता है । मनीषियों का कर्तव्य है कि जिस प्रकार प्रकृति के रहस्यों की खोज कर सुविधा संपन्नता में वृद्धि की गई है, उसी प्रकार वे अंतराल की उत्कृष्टता को खोजने, बढ़ाने तथा लाभान्वित होने के लिए जन-साधारण का पथ-प्रशस्त करें । 'जुंग' कहते हैं कि मात्र अचेतन ही सब कुछ नहीं है वरन् इससे भी आगे की परत ''उच्च चेतन'' का भी अलग अस्तित्व है । आदर्शवादी प्रेरणाएँ एवं उमंगें वहीं से उठती हैं । अचेतन तो अभ्यस्त आदतों का संग्रह-समुच्चय भर है । वे बुद्धि एवं साहसिकता से भी अग्रणी संकल्प शक्ति का गुणगान करते हैं और कहते हैं कि व्यक्तित्व को विनिर्मित करने में मनुष्य के विश्वासों का ही प्रमुख योगदान रहता है । 'एडलर' के मतानुसार-''अचेतन की सुदृढ़ता देखते हुए उसके सुधार संदर्भ में किसी को निराश नहीं होना चाहिए । स्वसंचित संकल्प,. आत्म-विश्वास और आदर्शों के प्रति आस्थावान बनने से उन मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तन कर सकना संभव है, जिन्हें चिर-संचित, दुराग्रही एवं अपरिवर्तनशील माना जाता है ।''

जीवन जीने की कला भाग-२/५

सुपर माइंड एक प्रकाश स्तंभ :

'फ्रेडरिक नीत्से' ने घोषणा की थी कि–''स्वयं से परे हटकर स्वयं को देखना ही वस्तुतः सही ज्ञान की प्राप्ति है ।'' क्या यह संभव है ? क्या हम स्वयं को अपने शरीर चिंतन की परिधि से निकाल बाहर कर सकते हैं, जो शांत चुपचाप खड़ा हो, हमारी हर गतिविधि, हमारी हर परिस्थिति का अवलोकन करता रहे । वस्तुतः यह हमारे भीतर है, जिसे हम 'सुपर माइण्ड' कहते हैं, जो एक लाइट हाउस की तरह दूर–दूर तक अपनी घुमावदार किरणें (रिवाल्विंग बीम) छोड़ता रहता है । हिमखंडों, तूफानों से जहाजों को बचाता है, पर स्वयं शांत बिना विचलित हुए खड़ा रहता है । दार्शनिक 'हेनरी बर्सो' का कथन है–''समय की जटिलताओं को न सुविधा संवर्धन से सुलझाया जाए और न दाँव पेच से । प्रवीण बुद्धि कौशल ही पतन पराभव का निराकरण कर सकेगा । प्रस्तुत जटिलताओं और विभीषिकाओं का समाधान पाने के लिए उस 'महाप्रज्ञा' को जगाने की आवश्यकता है जो अंतःकरण की गहराई में बसती है और ईश्वरीय प्रेरणाओं से मनुष्य को अवगत कराती है ।''

'मार्टिन ट्रिनबी' ने लिखा है–'' विचार बुद्धि की उपयोगिता कितनी ही क्यों न हो, पर वह रहेगी अपर्याप्त ही । चेतना की पूर्णता का केंद्र मस्तिष्क नहीं अंतःकरण है । अब परमात्मा की खोज और उसको पाने की बारी है । ऐसा संपर्क साधने के लिए एकमात्र स्थान मानवी अंतःकरण है । सहृदयता इसी केंद्र में बसती है ।'' 'हेनरी गाल्डर' ने अपने ग्रंथ–''एवोल्यूशन एंड मैन्सप्लेस इन नेचर'' में लिखा है–''विकास की दिशा में किए जा रहे प्रयास में एक कड़ी और जुड़नी चाहिए कि मनुष्य के हृदय की विशालता एवं गहराई को भी बढ़ाया जाए । वस्तुओं का लाभ जिसे उठाना है उसका अंतःकरण यदि निकृष्टता परायण रहा तो संपदा का दुरुपयोग ही होगा । संपदा कितनी

ही क्यों न बढ़े, पर यह ध्यान रहे कि उपभोक्ता की गरिमा ही साधनों का सत्परिणाम प्रस्तुत कर सकती है ।''

अंतःकरण को टटोलने की आवश्यकता :

'पियरे टेल चार्डिन' अपनी पुस्तक 'दि फिनोमिना ऑफ मैन' में लिखते हैं–''विग्रहों को सहकार में, खीज को मुस्कान में बदलने का एक ही तरीका है कि मनुष्य के वर्तमान चिंतन और रुझान में भारी परिवर्तन किया जाए । यह महान कार्य सामान्य प्रयासों से संभव नहीं । उसके लिए अंतःकरण को टटोलने और उसमें ईश्वर प्रदत्त महानता को उभारने की आवश्यकता पड़ेगी । परिस्थितियों से जुड़ी हुई विभिन्नता का परिशोधन सहृदयता उगाने एवं जगाने से ही संभव हो सकता है । सभी प्रख्यात भौतिकविद मनीषी इस बात पर जोर देते रहे हैं कि कब सहृदयता उभारने के लिए मानवी अंतःकरण में नई तैयारी के साथ नई कृषि की जानी चाहिए । इस क्षेत्र की उपार्जित फसल से ही मनुष्य की शारीरिक मानसिक और आत्मिक भूख बुझेगी ।'' ''मैन द अननोन'' और ''रिफ्लेक्शन ऑफ लाइफ'' के नोबुल पुरस्कार प्राप्त लेखक अलेक्सिस कैरेल ने कई स्थानों पर इस एक ही बात को दुहराया है कि प्रकृति दोहन से भी बड़ा क्षेत्र अंतःकरण की गरिमा उभारने का है । उस उपेक्षित क्षेत्र को नए सिरे से समझा एवं समुन्नत बनाया जाना चाहिए ।

आत्मा महात्मा से परमात्मा तक :

असंख्य प्रतिपादनों में से कुछ की झाँकी ऊपर की पंक्तियों में प्रस्तुत करने के उपरांत इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि व्यक्ति एवं समाज को वर्तमान से उबारने और उज्ज्वल भविष्य के निकट पहुँचाने के लिए मानवी अंतःरात्मा को समझा और जगाया जाना उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार सामान्य जीवन में निर्वाह के साधन जुटाना । अंतःकरण को जगाकर महामानव अथवा महात्मा के स्तर से भी ऊँचे

उठकर परिवार और समाज में रहते हुए परमात्मा से एकाकार होने की स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है । महात्मा होने का अर्थ है अंतःकरण की विशालता से । महात्मा वह है, जिसके सामान्य शरीर में असामान्य आत्मा निवास करता है । काया की वेश–भूषा और चित्र–विचित्र आवरणों का धारण होना न तो महात्मा होने का आधार है और न लक्षण । सामान्य वेश और सामान्य रहन–सहन के बीच आत्मा के स्तर तक पहुँचाया जाना संभव है और पहुँचाया जाता भी रहा है । मर्यादाओं से अवरुद्ध रहकर नागरिक कर्तव्यों का पालन करते रहना, उद्धत आचरणों से बचना, शील और सौजन्य को निवाहना, यह मनुष्यता का आवश्यक उत्तरदायित्व है । जिन्होंने अपने भीतर आत्मा को समझा है और उसकी गौरव–गरिमा को ध्यान में रखा है, उसे संयम, सदाचार और कर्तव्यनिष्ठा से जुड़ा हुआ शालीन जीवन जीना ही पड़ेगा ।

महात्मा की गरिमा इससे अगली मंजिल है । महान का अर्थ है विशाल, व्यापक । जो आत्मा अपने शारीरिक, मानसिक और पारिवारिक कर्तव्यों से आगे बढ़कर विश्व मानव के उत्तरदायित्वों को वहन करने के लिए अग्रसर होता है, मानवीय कर्तव्यों से आगे देव कर्तव्यों को वहन करने के लिए तत्पर होता है, वह महात्मा है । महात्मा अपने लिए नहीं सोचता, विराट् के लिए सोचता है, अपने लिए नहीं करता, विराट् के लिए करता है, अपने लिए नहीं जीवित रहता, विराट् के लिए जीता है ।

महात्मा कौन ? :

अपना शरीर हर छिद्र से मलीनता निःस्रत करता है, पर इसलिए कौन उसे घृणास्पद और त्याज्य ठहराता है कि इसमें गंदगी विद्यमान है । घृणा की आवश्यकता नहीं समझी जाती और शरीर को स्वच्छ करने पर ही ध्यान रहता है । अपनी ही तरह दूसरों की विविध मलीनताओं के रहते जो हेय, घृणास्पद,

पतित, त्याज्य नहीं ठहराता वरन् अपनी सहज ममता से प्रेरित होकर उसे निर्मल बनाने का श्रम करता है, वह महात्मा है । दिग्भ्रांत जन–समाज के आचरणों के प्रति आक्रोश उत्पन्न किए बिना जो धैर्य और शांतिपूर्वक विग्रह की रोकथाम पर ध्यान देते हैं, उस उदारमना व्यक्ति को महात्मा कहना चाहिए ।

हम अपने और अपने प्रियजनों के दुःखों से दुःखी होते हैं । इस क्षेत्र में सुख, दुःखों से संवर्धन का प्रयत्न करते हैं । हमें अपना सुख, यश, वैभव, उत्कर्ष प्रिय लगता है और जिन्हें अपना समझते हैं, उन्हें भी इसी सुखद स्थिति में रखने के लिए प्रयत्न करते हैं, यह परिधि जब बड़ी हो जाती है और प्यार दुलार का, ममता, आत्मीयता का क्षेत्र बढ़ जाता है, तो वैसी ही अनुभूति हर किसी के साथ जुड़ जाती है । दूसरों का कष्ट अपना कष्ट लगता है । अपने को सुखी बनाने के लिए जिस प्रकार अपना स्वभाव और चिंतन सक्रिय रहता है, वैसी सक्रियता यदि जन–साधारण के लिए विकसित हो चले तो समझना चाहिए कि आत्मा ने महात्मा का रूप धारण कर लिया । परायों में जब अपनापन प्रतिभासित होने लगे तो समझना चाहिए कि आत्मा ने महात्मा का रूप धारण कर लिया । परायों में जब अपनापन प्रतिभासित होने लगे तो समझना चाहिए कि दिव्य नेत्र खुल गए । जिसकी अहंता ग्रीष्म की हिम बनकर पिघल जाए, जो पवन जैसा सक्रिय और आकाश जैसा शांत दिखाई पड़े, समझना चाहिए कि यह महात्मा का रूप है ।

जब तक स्व एवं पर का ऊहा–पोह चलता रहता है, तब तक आत्मा और महात्मा का प्रेम–प्रसंग आदान–प्रदान, परिहास–मनुहार चल रहा समझना चाहिए । जब द्वैत की समाप्ति हो जाए और केवल एक ही शेष रहे, स्व और पर का अंतर सोचने की गुंजायश ही न रहे, तब समझना चाहिए, उसी काय–कलेवर में परमात्मा का अवतार हो गया ।

जीवन जीने की कला भाग–२/९

क्या किया जाए ? :

इस यूनिट में आपने अनेक मनोवैज्ञानिकों के संदर्भ पढ़े। नीरस भी लगे होंगे, पर मनःसंस्थान की विभिन्न परतों के संबंध में किए गए अध्ययन अनुसंधानों की जानकारी देने के लिए यह सब आवश्यक था । आपने कभी–कभी अनुभव किया होगा कि जब आपने अध्यापक के रूप में किसी बालक को आवश्यकता से अधिक दंड दिया होगा, किसी मृतक की, विपन्न की पेंशन स्वीकृत करने के लिए लिपिक के रूप में भारी रिश्वत ली होगी अथवा व्यापारी के रूप में सीमेंट में काली मिट्टी पीस कर मिलवाई होगी, तो एकांत में आपके अंतःकरण ने आपको अवश्य भीतर ही भीतर कचोटा होगा । ऐसी स्थिति यदि कभी उत्पन्न हो तो आप उसकी अनसुनी न कर दें । उसे ईश्वरीय परामर्श मानते हुए मन ही मन गलती के लिए क्षमा माँगें और भविष्य में ऐसा पाप–अपराध पुनः न करने का संकल्प लें । अंतःकरण की बात को महत्व देना, उसे समझ पाना ही उसे जगाना है । हमारा अंतःकरण जागता रहेगा, तो हमारी कमियाँ दूर हो जाएँगी और हमारा भावनात्मक, वैचारिक एवं व्यावहारिक स्तर ऊँचा उठता चला जाएगा । आप अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए भी उन विशेषताओं से संपन्न हो जाएँगे जो किसी महामानव अथवा महात्मा में ढूँढ़ने से मिलती हैं ।

> ***बदला लेने का विचार छोड़कर क्षमा करना अंधकार से प्रकाश में आना है और जीते जी नरक की जगह स्वर्ग-सुख भोगना है ।***

यूनिट-१० सारा जीवन ही साधना बने

साधना का परंपरागत अर्थ :

अंतःकरण का विकास ही व्यक्तित्व का समग्र विकास है । इस सतत् प्रक्रिया से मानव से महामानव, नर से नारायण बना जा सकता है । वस्तुतः जीवन को एक साधना मान कर चला जाए, तभी यह सब संभव हो सकता है । रूढ़ अर्थ में साधना एक धार्मिक, आध्यात्मिक प्रक्रिया है, जिसकी धर्म–संप्रदायों में अलग–अलग मान्यताएँ हैं । हिंदू धर्म में यम, नियम, आसन और प्राणायाम को बहिरंग तथा प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को अंतरंग साधना सोपान के रूप में स्वीकार किया गया है । जैनागमों में अनशन, अनोदारता (आहार संबंधी नियम) भिक्षा–चर्या, वृत्ति–संकोच, रस–परित्याग, काय–क्लेश और निर्विकारिता को बहिरंग साधना की तथा प्रायश्चित, विनय, सेवा–परिचर्या, स्वाध्याय, ध्यान एवं कायोत्सर्ग को अंतरंग साधना अर्थात् तप की संज्ञा दी गई है । बौद्ध धर्म में स्वपीड़न और परपीड़न विरहित तप को श्रेष्ठ माना गया है । परंतु साधना या तप कोई जड़ प्रक्रिया नहीं है, जिसको नियमोपनियमों के शिकंजों में कस दिया जाए । वह एक गत्यात्मक प्रक्रिया है, जिसका अनुगमन बदलती हुई जीवन–परिस्थितियों के साथ व्यावहारिक धरातल पर होना आवश्यक है ।

साधना केवल धार्मिक कर्मकांड, सापेक्ष क्रिया मात्र नहीं है । उसको यह रूप देकर धर्माचार्यों ने मानवमात्र को एक संकुचित दायरे में बंद कर दिया है । गृहत्यागी, विरक्त और संन्यासी, महाप्राण मनीषियों के आचार आदर्श का मान बिंदु ही स्थापित कर सकते हैं, परंतु लोक–धर्म का रूप नहीं ले

सकते । आज धर्म के नाम पर नई पीढ़ी नाक–भौं सिकोड़ती है, उसका दोष किस पर है ? जो धर्म या साधनापथ लौकिक जीवन के बदलते आश्रमों के साथ अपने को गत्यात्मक नहीं बनाए रख सकता, उसका स्थान शास्त्रों में सुरक्षित रहने योग्य है, पर जन–पथ पर उसका रथ अग्रसर नहीं हो सकता ।

जन–समाज में अधिकांश संख्या तो गृहस्थों की है और जो नामधारी साधु–संन्यासी हैं, उनमें से भी अधिकांश प्रच्छन्न गृहस्थ ही हैं । फिर यम–नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान–धारणा, समाधि की कठोर प्रक्रिया में से गुजरने की अपेक्षा किससे की जा रही है ?

साधना वेष में नहीं है । साधना कर्मकांडों में भी नहीं है । साधना दिखाने के लिए नहीं की जाती । साधना परंपराओं को चलाने के लिए नहीं की जाती । साधना दुनिया को उपदेश बघारने के लिए भी नहीं की जाती । आज भारत में तथाकथित साधकों की भरमार है फिर भी साधकों और उनके संपर्क में रहने वाले व्यक्ति से ऐसा वातावरण तैयार नहीं हुआ है, जैसा कि एक साधनानिष्ठ व्यक्ति के संपर्क से होना चाहिए ।

साधना का स्वरूप :

साधना वह होती है, जिससे वातावरण आनंद और प्रेममय बन जाता है । साधना जहाँ होती है, वहाँ ईमानदारी और प्रामाणिकता मूर्तिमान हो जाती है । ऐसी साधना कर्मकांडों से नहीं, आंतरिक पवित्रता, विशुद्ध प्रेम–भावना, स्वार्थ–त्याग आदि सद्‌गुणों के पोषण और विकास से होगी । जिस दिन इस सहज प्रक्रिया से सहज जीवन विकसित होगा, उस दिन संसार का दूसरा ही रूप होगा । आवश्यकता है, साधना के नाम पर पलने वाले भ्रमों में न उलझकर व्यक्ति की प्रत्येक प्रवृत्ति को साधनामय बनाएँ, फिर देखें उसका समाज और संसार पर कैसा सुखद

परिणाम होता है ।

साधना का अर्थ है, असंतुलित को संतुलित बनाना, अनगढ़ को सुगढ़ बनाना । **डगमगाते, लड़खड़ाते सुविधा के लोभ में सुपथ को छोड़ने को उद्यत जीवन को सँभालने के लिए प्रखर पुरुषार्थ करना ही साधना है ।** आज किए जाने वाले तथाकथित सभ्यता की होड़ में लगे जीवन को संस्कारवान बनाना साधना है । नश्वर सुख की लालसा में दिग्भ्रमित मानवी श्रम को परमार्थ परायणता से निःसृत आनंद निर्झर की शीतल अनुभूति प्राप्ति की ओर मोड़ देना साधना है । आज अपेक्षा है, उस साधना की, जिसका वर्णन संत कबीरदास के एक पद में किया गया है । ''साधो सहज समाधि भली ।'' इस पद में कबीर ने नाम ''समाधि'' का लिया है, पर वह एक संपूर्ण जीवन साधना का दर्शन है । उन्होंने सारा जीवनदर्शन ही क्रांतिकारी ढंग से प्रस्तुत कर दिया है । नित्य–जीवन की सहज क्रियाओं को लेकर महात्मा कबीर ने यह व्यक्त करने का प्रयास किया है कि मनुष्य–जीवन की सही दिशा और सच्ची साधना क्या है ?

लक्ष्य के अनुसार साधना :

''साधना'' शब्द अपने आप में कोई अर्थ नहीं रखता । हमने उसमें अपना अर्थ आरोपित कर दिया है, यह अलग बात है, लेकिन शुद्ध रूप में साधना शब्द अर्थ से परे है । अर्थ उसमें तब आता है, जब किसी लक्ष्य, उद्देश्य अथवा क्रिया से जुड़ जाता है । एक आध्यात्मिक संत की क्रिया भी साधना है और विज्ञान के क्षेत्र में अंतरिक्ष यात्री की क्रियाएँ भी साधना है । एक माँ अपने बेटों के लिए, परिवार के लिए रसोई बनाती है, यह भी साधना है । गृहिणी की इस साधना का मूल्य यों तो पता नहीं चलता, लेकिन जब कभी अनसधे हाथों को चौके–चूल्हे की शरण में जाना पड़ता है, तब पता चलता है कि यह कितनी बड़ी

साधना है । सब प्रकार की कलाओं की सिद्धि के लिए साधना करनी पड़ती है, अर्थात् एकाग्रतापूर्वक अभ्यास करना पड़ता है । परस्पर व्यवहार को सभ्य समाज के अनुकूल बनाने के लिए बचपन से ही संस्कारों द्वारा साधना करनी पड़ती है । प्रेम, उदारता, सेवा-भावना आदि गुणों के लिए भी निरंतर साधना करनी पड़ती है । व्यापार-व्यवसाय में भी सैकड़ों बातें ऐसी हैं जो बिना अभ्यास के और बिना परिश्रम के साध्य नहीं होतीं, इसमें भी साधना की आवश्यकता होती है ।

उल्लेखनीय है कि साधना का कोई एक प्रकार या एक नियम नहीं है और वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए अलग-अलग भी हो सकता है । गाँधी जी ने कहा था कि मेरा जीवन ही सत्य की साधना में बीत रहा है । वे जीवन भर सत्य के प्रयोग करते रहे । उनकी हर प्रकृति के पीछे सत्य का आग्रह रहा करता था । महात्मा कबीर ने अपने पद में यही बात कही है । उन्होंने जब देखा कि लोग अमुक-अमुक क्रियाओं या परंपराओं को ही धर्म-कार्य और साधना मानते हैं और उतना सा करके समझते हैं कि वे साधक बन गए, तो उन्होंने मशाल हाथ में लेकर साधना मार्ग को प्रकाशित किया । लोगों की आँखें खोलने का प्रयास किया कि हमारी वे सारी क्रियाएँ, धर्म-क्रियाएँ, साधनाएँ हैं, जो हम सबेरे उठने से लेकर रात को सोने तक और निद्रा में भी करते हैं ।

साधना को सिद्धि का रूप तभी प्राप्त होता है, जब वह सहज हो जाती है । कबीर कहते हैं-''मेरा चलना ही प्रभु की परिक्रमा है, मेरा कुछ भी करना सेवा ही है, मेरा सोना ही दंडवत है, जो कुछ बोलता हूँ, वही जप है, जो सुनता हूँ, वही प्रभु का सुंदर रूप है ।'' कबीरदास के इस पद से एक बात यह भी स्पष्ट होती है कि हमें अपने व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों से कभी विमुख नहीं होना चाहिए और नित्य जीवन की समस्त क्रियाओं

में उसी विराट् विभु की लीला का, विराट् विश्व की सेवा का रस प्राप्त करना चाहिए ।

जीवन साधना का संबल-आचरण :

जीवन की साधना का सबसे बड़ा संबल हमारा कर्मरत और समाजगत आचरण है । समाज से छिटककर विशेष परिवेश की अवधारणा करने से हम अपनी कल्पना की उन्मुक्त उड़ान भले ही भर लें, पर इससे हमारा तथा समाज का कोई वास्तविक लाभ नहीं होगा । बारह वर्ष तक साधना करके कोई व्यक्ति पानी पर चलने का अभ्यास करके चमत्कारी कहला सकता है, पर उसकी सिद्धि का कुल मूल्य रामकृष्ण परमहंस के शब्दों में केवल चार पैसे है, क्योंकि चार पैसे खर्च करके नौका में बैठकर कोई नदी पार कर सकता है । हमारी बहुत सारी साधनाओं के मूल में यही अल्पमोली बातें हैं, जिनसे हमें मुक्त होना है, अपने को सहज साधक बनाना है ।

आज आवश्यकता है, उस साधना की जो हल की मूठ पकड़े, मशीन का पहिया घुमाते, श्रमिक प्रयोगशाला में प्रयोगरत वैज्ञानिक, व्यापारी, व्यवसायी एवं कलम घिसते कर्मचारी की परस्पर भिन्न परिस्थितियों में अध्यात्म की दीपशिखा प्रज्ज्वलित कर सके । जब कोई कृषक लू, धूप की परवाह किए बिना हल चलाता है, तब वह साधना ही तो करता है । जरूरत तो बस इतनी है कि उसके कर्म को आत्मकेंद्रित न होने देकर लोक-मंगल के पवित्र भाव से संपुष्ट किया जाए, ताकि उसका वही कर्म 'स्व' के साथ 'पर' के लिए होकर उसमें भाव-शुद्धि की भावना भर दे और उसको आध्यात्मिक दीप्ति प्रदान कर दे । मशीन के साथ जूझते पसीने से लथपथ श्रमिक का कर्म किस साधना से कम है ? उसे साधना का पवित्र पद देने के लिए उसके साथ लोकहित का भाव जोड़ दिया जाए, तो वही उसके लिए आध्यात्मिक धर्म बन जाएगा । व्यापारी के धृति-साध्य

कर्म को यदि अनुचित मुनाफा कमाने के दूषण से मुक्त कर दिया जाए तो वही 'स्व' में 'पर' की साधना का पुनीत कर्म बन जाएगा । तात्पर्य यह है कि साधना कोई ऊपर की ओढ़ी जाने वाली, अपने और दूसरों को प्रवंचित करने वाली रामनामी चादर न बने, तो उसकी सहजता जीवन में व्यवहार्य हो सकेगी । यही उसके लिए सच्ची साधना होगी ।

साधना के प्रयोजन :

यह खूब अच्छी तरह समझ लेने की बात है कि साधना का पारंपरिक रूप आधुनिक जीवन के संदर्भ में निरुपयोगी बन गया है । इस पुरानी परिभाषा में आज की पीढ़ी के लिए कोई आकर्षण नहीं है । बीज बोने के लिए खेत को जोतना पड़ता है । दीवार खड़ी करने के लिए पहले नींव खोदी जाती है । साधना के यही दो प्रयोजन हैं, एक संचित कुसंस्कारों का उन्मूलन, दूसरे सत्प्रवृत्तियों की सुदृढ़ संभावना। इसे और सरल भाषा में यूँ कहा जा सकता है कि अवरोधों को हटाना और सहायक साधनों को बढ़ाना । 'साधना' माली के समान कठोर कर्तव्य जैसी होती है । माली पौधों को खाद, पानी देता है, रखवाली करता है और फलने–फूलने की स्थिति तक पहुँचाने के लिए निरंतर प्रयत्न करता है। इतने पर भी समय–समय पर काँट–छाँट करने में भी चूकता नहीं। यदि वह मोहग्रस्त मनःस्थिति बना ले तो फिर पौधों के नीचे खरपतवार को निराना–उखाड़ना और छितराई हुई टहनियों की काँट–छाँट कर सकना उसके लिए संभव न होगा। यह मोहग्रस्तता उसे माली के पवित्र कर्त्तव्य से च्युत कर देगी और उसके प्रिय उद्यान का विकास ही रुक जाएगा। **साधना कठिन होती है क्योंकि हमें अपनी ही कमियों का अध्ययन करना होता है, फिर उनके उन्मूलन के लिए प्रयास–पुरुषार्थ करना होता है। हम ही कपड़ा, हम ही धोबी और हम ही रंगरेज होते हैं। यह स्थिति साधक के लिए कठोर**

होती है। यह कार्य हम अपने नियमित जीवन, व्यवसाय अथवा उद्योगों में कर सकते हैं। आप अध्यापक हैं तो अध्यापन कार्य को तथा विद्यार्थियों को सुसंस्कारित बनाने को अपना धर्म समझिए, उन्हें ईश्वर स्वरूप मान कर उन्हें श्रेष्ठतम रूप प्रदान करने का प्रयास करिए। आज के अनुशासनहीनता भरे वातावरण में भी जो अध्यापक अपने छात्र–छात्राओं को सही जीवन–दिशा देने का प्रयास करते हैं, उनके प्रति समझदार एवं वयस्क होने पर विद्यार्थी सदैव श्रद्धावनत होते देखे जाते हैं। आप कर्मचारी हैं तो वेतन लेंगे ही, व्यापारी हैं तो लाभ कमाएँगे ही, पर वह लाभ लोभ से इतना ग्रस्त न हो जाए कि आपका व्यापार ही, जो आपका धर्म है, अधर्म बन जाए। ग्राहक व्यापारी का इष्ट है, इष्ट को रुष्ट नहीं किया जाता है। इष्ट एकाग्रता एवं निरहंकारिता की अपेक्षा करता है। आपका आत्मीय विनम्र, सेवाभावनापूर्ण एवं स्नेह–संवेदनासिक्त व्यवहार आपके ग्राहक को गद्‌गद् कर देगा और वह सदा–सदा के लिए आपको अपना समझने लगेगा। रैदास की सेवा–भावना, कर्त्तव्यनिष्ठा और मन की एकाग्रता के वशीभूत होकर स्वयं गंगा उनकी कठौती में पहुँचीं थीं। क्यों ? रैदास ने किसी तीर्थस्थल पर जाकर साधना की थी ? क्या उन्होंने कोई जप–अनुष्ठान किया था अथवा माथे पर लंबा सा तिलक, गले में तुलसी–रुद्राक्ष की मालाएँ और शरीर पर रामनामी चादर सजाई थी ? पशुओं की खाल के जूते गाँठने वाले रैदास ने तो अपने काम को ही धर्म, अपने ग्राहक की संतुष्टि को ही पूजा समझा। जो कुछ किया, यह समझकर किया कि प्रभु का कार्य कर रहे हैं। उन्होंने अपने कार्य के माध्यम से ही जीवन–साधना की थी।

क्या किया जाए ? :

आवश्यकता इस बात की है कि हम सोचें कि हम जो कार्य करते हैं, उसी के द्वारा किस प्रकार जीवन–साधना कर

सकते हैं। दुष्कर्मों के प्रभाव तो केवल सत्कर्मों से कटेंगे। कृपया उन पाखंडियों की बातों में न आइए जो पूजा-पत्री, गंगा-स्नान अथवा सरल कर्मकांडों की लकीर पीट देने से आपके पापों की निवृत्ति का आश्वासन देते हैं। उनके बहकावे में मत आइए। जितना भारी पाप हो उतना ही वजनदार पुण्य होगा, तभी संतुलन बनेगा। अतः हम जिस पद पर अथवा जिस व्यवसाय में हैं उसी में रहकर अपने स्नेह, सद्भाव से पवित्रतापूर्ण वातावरण उत्पन्न करें। यह एक ऐसा वातावरण होगा जिससे आकृष्ट होकर न केवल व्यक्ति आपके पास आने के लिए उत्सुक होंगे वरन् आपको आत्मोत्थान का अवसर भी मिल सकेगा। इस प्रकार लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही लाभ एक साथ हस्तगत हो सकेंगे।

आत्मविकास का पौधा सांसारिक विषय वासना की भूमि पर नहीं उगता, उसके लिए यत्नपूर्वक तैयार की हुई प्रेम-वारि से तर समतल भूमि चाहिए।

यूनिट-११	अहंकार में घाटा ही घाटा

स्व का विकृत बोध अहंकार :

जो व्यक्ति जीवन की साधना सीख लेता है, वही आत्मविकास के उच्चतम सोपान पर चढ़ने में सफल हो पाता है। जो जीवन को साध न पाया उसकी बुद्धि, धन, साधन सब निरर्थक ही रहे। जीवन लक्ष्य की प्राप्ति में अहंकार एक दैत्याकार शत्रु है। यही मन के विकारों को जन्म देता है। यही हमारी प्रगति पथ में पर्वत जैसे विशाल अवरोध खड़े कर देता है, **स्व के विकृत बोध को ही अहंकार कहते हैं।** वह आत्मतत्त्व से न जुड़कर भौतिक संपदाओं के साथ जुड़ा होता है। दूसरों की तुलना में अपने को विशिष्ट मान बैठने पर अहंता की उत्पत्ति होती है। बलिष्ठता, सुंदरता, संपन्नता, पद, अधिकार आदि उसके कारण हो सकते हैं। कई बार भ्रम भी उसका निमित्त बन जाता है। जाति–पाँति के आधार पर कई अपने को ऊँचा मानते हैं। इस आधार पर दूसरे नीच या हेय प्रतीत होने लगते हैं और अहंकार जड़ जमा लेता है।

दूसरों को हेय मानने की प्रवृत्ति :

अपनी अहंता प्रकारांतर से दूसरों को हेय या हीन मानने लगती है। अपनी मान्यता को दूसरों को गले उतारने के लिए वह अपने साधनों का उद्धत प्रयोग करती है, ताकि उनकी ओर अन्यान्यों का ध्यान आकर्षित हो। वे उसे देखें, समझें और बड़प्पन स्वीकार करें। इस प्रकार की स्वीकृति तभी बन पड़ती है, जब उसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिले। साधारण स्थिति बनी रहने पर तो ध्यान उस ओर जाता नहीं। इसलिए कुछ न कुछ उद्धत आचरण अहंकारी को करना पड़ता है, अन्यथा दूसरे क्यों डरें ? क्यों गिड़गिड़ाएँ ? क्यों ललचाएँ ? अहंकार इस हेतु

जीवन जीने की कला भाग–२/१९

उद्धत आत्म–प्रदर्शन किए बिना नहीं रहता । कुछ नहीं तो आत्मश्लाघा सहित अपना बखान स्वयं ही करने लगता है । ऐसी घटनाओं का सच्चा–झूठा वर्णन करता है, जिससे उसकी छाप सुनने वालों पर पड़े और समीपवर्ती उसका लोहा मानने के लिए बाधित हों । जिसने उसकी महत्ता स्वीकारने में उपेक्षा दिखाई, उसे अपना शत्रु तक मानने लगता है । इसका बदला वह नीचा दिखाने का अवसर ढूँढ़कर करता है । जो हाँ में हाँ न मिलाए, जी हजूरी न करे, उसके साथ वह ऐसा व्यवहार करता है, ऐसी चाल चलता है, जिससे उसे तिलमिलाने का दंड भुगतना पड़े । अहंकारी के पास स्नेह–सौजन्य नहीं रहता । सज्जनता, विनयशीलता, नम्रता का तो अस्तित्व ही नहीं रहता ।

अहंकार अनर्थ का मूल :

अहंकार का नाश करने में मनुष्य को सर्वप्रथम तत्पर होना चाहिए, क्योंकि यही सारे अनर्थों का मूल है । ध्वंस, दुख और विनाश के ही परिणाम इससे प्राप्त होते हैं । रावण की शक्ति का कुछ ठिकाना न था, कंस का बल और पराक्रम जगत विख्यात है । दुर्योधन, शिशुपाल, नेपोलियन, हिटलर की शक्तियों के आगे संसार झुकता था किंतु उनका अहंकार ही उनको खा गया । मनुष्य को पतन की ओर ले जाने में अहंकार का हाथ रहता है । अभिमानी के प्रति सर्वसाधारण की मान्यता पाखंडी जैसी बन जाती है । उसके साथ सहयोग करना तो दूर, संपर्क करने वालों में से हर एक की इच्छा होती है कि इस बला से जितनी दूर रहा जाए, उतना ही अच्छा । न उसका कोई हितैषी रहता है, न मित्र, न घनिष्ठ । मात्र चापलूस ही उसकी हाँ में हाँ मिलाकर उल्लू बनाते और साथ ही अपना कोई अनुचित स्वार्थ सिद्ध करते रहते हैं । उनकी पटरी ऐसे ही लोगों के साथ बैठती है । बार–बार ठगे जाते हैं । फिर भी अन्यत्र कहीं

सहारा न मिलने के कारण ऐसे ही चाटुकारों के पास जा पहुँचते हैं और प्रकारांतर से उन्हें रिश्वत देते या उनसे ठगे जाते रहते हैं ।

अहंकार एक भ्रांति :

अहंकार एक भ्रांति है, जो आत्मप्रदर्शन के लिए पग-पग पर पाखंड रचने के लिए प्रेरित करती है । जिनमें वस्तुतः कुछ विशेषताएँ होती हैं, जो वास्तव में साधन-संपन्न, गुणवान या वरिष्ठ होते हैं उनमें सज्जनता भी सहज ही साथ रहती है । सज्जनता का पहला लक्षण है, नम्रता, शिष्टता । दूसरा गुण है- हर किसी को यथोचित सम्मान प्रदान करना । जिनमें इनमें से एक भी गुण न हो उनकी गणना दुर्जनों में होती है । मानवी गरिमा की दृष्टि से उसे गया-गुजरा माना जाता है । इस तथ्य से जो अवगत है, उसी को यथार्थवादी या बुद्धिमान कहा जाता है । इसलिए सज्जन अपने में इन तीनों ही विशेषताओं को समुचित मात्रा में अपनाए रहकर अपना दृष्टिकोण और स्वभाव उसी साँचे में ढाल लेते हैं । उन्हें अभिमान, आत्मघात जैसा प्रतीत होता है और उससे बचे रहने का सतर्कतापूर्वक प्रयत्न करते हैं । आत्म-निरीक्षण करते हुए पैनी दृष्टि से यह जाँचते रहते हैं कि कहीं अहंकार ने व्यक्तित्व के किसी पक्ष में डेरा डालना तो आरंभ नहीं कर दिया । यदि किसी मात्रा में ऐसा हो रहा होता है, तो वे उसे हटाने के लिए पूरी शक्ति से उसमें प्रयत्न करते हैं ।

होटलों और क्लबों में ऐसे लोगों की घुसपैठ होती है । दावत देने, सैर सपाटे पर निकलने के पीछे उनकी मंशा यही होती है कि दूसरे लोग समझें कि यह सामान्य नहीं असामान्य स्तर के हैं । फोटो छपाने की ललक ऐसे ही लोगों की होती है । अपनी कृतियों का बढ़ा-चढ़ाकर ढिंढोरा पीटने-पिटवाने के बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता । अहंकार का जाल-जंजाल

ऐसा है, जिसमें फँस जाने वाला अपनी वास्तविक शक्तियों का इस प्रकार उद्धत प्रयोग करता है कि निरंतर घाटा बढ़ता ही चले। जो कुछ पास में था, उसका सदुपयोग करके कुछ बना और बढ़ा जा सकता था, वह आत्म–प्रदर्शन के कुचक्र में ही बर्बाद हो जाता है। अहंकारी हर दृष्टि से घाटा ही घाटा उठाता है। जिस प्रकार दर्पण में देखकर चेहरे की गंदगी साफ कर ली जाती है, उसी प्रकार आत्म–निरीक्षण द्वारा अपने चिंतन और व्यवहार का निरीक्षण परीक्षण करके यह देखना चाहिए कि स्वभाव में अहमन्यता के दुर्गुण का समावेश तो नहीं होने लगा, नम्रता, शिष्टता और सज्जनता का स्तर घटने तो नहीं लगा, प्रदर्शन की ललक ने अंतराल में अड्डा जमाना तो आरंभ नहीं कर दिया। यदि ऐसा हो तो उचित यही है कि समय रहते आत्म–शोधन कर लिया जाए। अहंकार की वृद्धि के साथ मनुष्य का पतन आरंभ हो जाता है और अभिमान की पराकाष्ठा सर्वनाश करके ही छोड़ती है। रावण जब अभिमान से बुरी तरह ग्रस्त हो गया और उसने अमानवीय अमर्यादित कृत्य शुरू कर दिए तो वह अपने कुटुंब के साथ विनाश को प्राप्त हुआ। अभिमानी दक्ष प्रजापति ने महादेव शिवजी के साथ जो उसके दामाद भी थे, विरोध ठान लिया। अभिमान प्रकट करने तथा उन्हें अपमानित करने के लिए विशाल यज्ञ रचा और शिवजी को निमंत्रण नहीं भेजा। सती के पितृ गृह में बिना बुलाए चले जाने पर उनका अपमान किया और सती क्रुद्ध हो, यज्ञाग्नि में जल मरीं। अंत में दक्ष की बुरी दशा हुई। दान का अभिमान करने वाला राजा बलि पतित हुआ। तप के अभिमानी दुर्वासा ने निर्दोष अंबरीष को शाप दे दिया, किंतु उसका मूल्य उन्हें ही चुकाना पड़ा और क्षमा माँगनी पड़ी।

अहंकार मानसिक असंयम का दुष्परिणाम :

तृष्णा वासना की तरह ही अहंता भी मानसिक असंयम का दुष्परिणाम है । अहंकार के कारण भी अपनी मानसिक शक्तियाँ बर्बाद होती रहती हैं । अपने बारे में औरों की राय जानने की इच्छा, चर्चित होने की आकांक्षा, दूसरों से प्रशंसा सुनने और करवाने की अपेक्षा आदि कितने ही रूपों में अहंता व्यक्ति के मन मस्तिष्क में उठती उमगती रहती है । इस तरह की इच्छा और अपेक्षा के मूल में अहंता ही मूल कारण है । दूसरों से प्रशंसा सुनने या राय जानने का एक ही उद्देश्य है अपने को महत्वपूर्ण अनुभव करना । अपने को महत्वपूर्ण अनुभव करने या अभिव्यक्त करने के लिए मनुष्य का मस्तिष्क ऐसी उधेड़बुन में उलझ जाता है कि फिर वह अपनी सारी विचार–शक्ति को उसी ताने–बाने में उलझा देता है । महत्वाकांक्षा कोई बुरी बात नहीं है, पर जब वह अहंकार का पोषण करने के लिए ही की जाती हो तो मस्तिष्क फिर उसी दिशा में सोचने के लिए अभ्यस्त हो जाता है । उस दशा में रचनात्मक चिंतन की दिशा ही नहीं सूझती । सारी विचारशीलता अहंकार के पोषण में न भी लगे तो भी व्यक्ति अहंता के कारण अपने संबंध में ऐसी मान्यताएँ स्थापित कर लेता है कि उन पर थोड़ी भी प्रतिकूलता सहन नहीं होती । क्रोध, उत्तेजना और आवेश जैसे मनोविकार अहंता के कारण ही उत्पन्न होते हैं । अहंता व्यक्ति को अपने आप में सामान्य और प्रतिष्ठित कर देती है और अन्य लोगों से भी उसी स्तर का व्यवहार करने की अपेक्षा करती है । उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति नहीं चाहता कि उसकी बात को न माना जाए या उसकी बात की उपेक्षा की जाए । यों सत्परामर्श सभी मानते हैं, पर अपने परामर्श में कोई त्रुटि हो भी तो अहमन्यता उसमें कोई दोष नहीं देखती और दूसरे व्यक्ति से उसे अक्षरशः स्वीकार कर लेने को आग्रह करती है । परिस्थितिवश

या परामर्श के अव्यावहारिक होने पर जब उसे स्वीकार नहीं किया जाता है, तो परामर्शदाता उसे अपनी मान-प्रतिष्ठा का विषय बना लेता है और क्षुब्ध हो उठता है ।

क्रोध की जननी अहंता :

क्रोध की जननी भी अहंता ही है । किसी ने कोई अपशब्द कह दिए तो जिसे कुछ कहा गया है उसका कुछ बिगड़ता नहीं । बस अपने बड़प्पन को ठेस लगती प्रतीत होती है, यह बात बड़ी गहरी चुभती है कि जैसे उसने अपने प्रति कोई अपराध कर दिया हो । यदि क्षमा की नीति अपनाई जाती और प्रतिपक्षी ने जो कुछ कह दिया है, उसे भुला देने या ध्यान न देने की नीति अपनाई जाती तो मस्तिष्क में होने वाली उथल-पुथल, अहं को चोट पहुँचाने वाली तिलमिलाहट, हृदय में शूल सी चुभने वाली वेदना जैसी दाहक अनुभूतियों से बचा जा सकता था और अपनी मानसिक शक्तियों को उस अग्नि में जलने से बचाया जा सकता था, परंतु अहमन्यता इन सब बातों को कहाँ सोचती है ? उनमें तो आघात का प्रत्याघात, मुँह तोड़ उत्तर देने और रोष व्यक्त करने से लेकर सामने वाले को नष्ट कर देने तक के विचार उठते हैं । संसार में जितने भी उपद्रव होते हैं, व्यक्तिगत लड़ाई-झगड़े होते हैं, मन-मुटाव के कारण होने वाले अपराधों की जड़ में अहंता ही है और उसके कारण मानवीय शक्ति का, व्यक्ति की मानसिक शक्ति का बहुत बड़ा भाग नष्ट हो जाता है ।

साधनापरक नीति अपनाना बुद्धिमानी :

अहंताजन्य होने वाली प्रतिक्रिया और फलस्वरूप अपनी शक्ति के होने वाले अपव्यय को रोकने के लिए सुलझी हुई मान्यताएँ अपने चिंतन में बिठाई जाएँ तथा उसके कारण होने वाली हानियों को अपनी क्षति समझ कर उनसे बचने के लिए उसी स्तर के प्रयास किए जाएँ, जैसे कि लोग व्यापार, व्यवसाय

में संभावित घाटे से बचने के लिए करते हैं, तो समझा जाना चाहिए कि अपनी ही भाँति औरों को भी अपने अस्तित्व का भान है और उन्हें भी उसकी रक्षा का अधिकार है । सामने वाला यदि आवेशवश कोई गलत बात कह भी रहा है तो उसकी उपेक्षा न करने अथवा उसके विधेयात्मक पहलू पर ध्यान देने में जितना हित है उतना उलट कर प्रतिकार करने में नहीं है । उनके प्रतिकार का ढंग समाधान परक होना चाहिए न कि प्रतिशोध से भरा हुआ । जैसे उस व्यक्ति के नाराज होने या खिन्न होने के कारण का पता लगाया जा सकता है, उसके शांत चित्त होने पर उसकी भ्रांतियों का निराकरण किया जा सकता है । इस प्रकार समाधानपरक नीति अपना लेने से अपने व्यक्तित्व की सुंदरता में चार चाँद लग जाते हैं, जब कि उलटकर प्रत्याघात करने में अपना स्तर भी उतना ही गिर जाता है जितना कि सामने वाले का । किसी गाली का जबाव गाली से देने में व्यक्ति को नैतिकता के उसी धरातल पर उतरना पड़ेगा जिस धरातल पर गाली देने वाला खड़ा है । नीचे उतरने में अपनी उच्च नैतिकता को अधोगामी बना लेने में कौन–सा बड़प्पन है ?

<u>हम स्वाभिमानी बनें, अहंकारी नहीं :</u>

आत्मा की शक्ति सामर्थ्य पवित्रता एवं उत्कृष्टता पर विश्वास करना और कोई ऐसा कार्य न करना जिससे अपनी या किसी अन्य की दृष्टि में यह मूल्य घटता हो, स्वाभिमान है । आंतरिक उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता को किसी भी मूल्य पर घटने न देना, भय और प्रलोभन की परवाह किए बिना, कष्ट सहते हुए भी अपनी उच्चस्तरीय गतिविधियों को अक्षुण्ण रखने में संतोष एवं गौरव अनुभव करना यह स्वाभिमान है । हमें ऐसे स्वाभिमान की रक्षा करनी चाहिए । अहंकार वह है, जिसमें अपनी दौलत, अक्ल, पदवी या ख्याति को चोट पहुँचते ही

अपना अपमान अनुभव होता है और इसे अपनी भारी क्षति समझकर व्यक्ति प्रतिशोध के लिए भड़भड़ाकर उठता है । अपनी स्थिति को आकाश जैसा मानना और बढ़ा–चढ़ाकर बताना, हाँ में हाँ करने वालों से प्रसन्न रहना किंतु आलोचना करने वालों से बिगड़ पड़ना, ये अहंकार के चिह्न हैं ।

क्या किया जाए ?

अतः स्वाभिमानी बनिए, अहंकारी नहीं । अहंकार की तुष्टि के लिए धन बर्बाद मत करिए । चापलूसों से बचिए, याद रखिए पीठ पीछे की गई प्रशंसा ही वास्तविक प्रशंसा होती है । मुँह पर जो प्रशंसा करते हैं, वह निश्चय ही कोई स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं । मनुष्य का गौरव मनुष्यता में है, सज्जन व्यक्ति नम्र, विनयशील, सीधे–सरल, सहिष्णु और उदार होते हैं । यह आत्मिक गुणों का अमृत ही आपको इतनी तृप्ति देगा कि फिर बाहरी प्रशंसा की शराब आपको सर्वथा निरर्थक प्रतीत होने लगेगी । दूरदर्शिता इसी में है कि सच्चे मन से यश, पदलोलुपता, अहंता छोड़िए, विनम्रता अपनाइए । दूसरों को आगे रखिए, स्वयं पीछे रहिए । अपना बखान स्वयं न करिए । अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने की अपेक्षा किसी अन्य के द्वारा आपकी पीठ पीछे आपकी प्रशंसा में कहा गया छोटा सा एक वाक्य आपको कहीं अधिक सम्मान, श्रद्धा का पात्र बना देगा ।

> ***आत्म-नियंत्रण ही स्वर्ग का द्वार है । यह प्रकाश तथा शांति की ओर ले जाता है । उसके बिना मनुष्य नरकवासी बना रहता है ।***

यूनिट-१२ आलस्य-प्रमाद को जीतें, हर क्षेत्र में सफल बनें

शरीर और मन दोनों का सहयोग आवश्यक :

अहंकारी बनने के स्थान पर स्वाभिमानी बनना ही उचित है, क्योंकि इससे व्यक्ति का मनोबल दृढ़ होता है, लौकिक एवं आध्यात्मिक उत्थान के मार्ग में बाधा भी उपस्थित नहीं होती है । मनुष्य की समग्र संरचना शरीर और मन के सम्मिश्रण से होती है । इन दोनों का जो जितना सदुपयोग कर सकता है, वह अपने लिए उतनी ही संपदाएँ और सफलताएँ अर्जित करता है, साथ ही अपने समय और जनसमुदाय के लिए भी कहने लायक सुख–सुविधाएँ उत्पन्न करता है, स्वयं प्रगति पथ पर चलता है और अन्य असंख्यों को ऊँचा उठाने, आगे बढ़ाने में असाधारण रूप से सहायक सिद्ध होता है, किंतु जो इन दोनों ईश्वर प्रदत्त विभूतियों को ऐसे ही उपेक्षित पड़ी रहने देता है या उनका दुरुपयोग करता है, वह हानि भी कम नहीं उठाता है । उससे प्रभावित लोग भी कम हानि नहीं उठाते । शरीर की सार्थकता इसमें है कि जितनी उसमें क्षमता है, उसके अनुरूप उससे काम लिया जाए । उसे आलस्य में, अर्ध–मूर्च्छितों की तरह तंद्राग्रस्त स्थिति में न पड़े रहने दिया जाए । इस स्थिति को आलस्य कहते हैं । आलस्य को मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु माना गया है । मन का कर्तव्य और उत्तरदायित्व यह है कि वह शरीर के साथ मिलकर अपने लिए सुनिश्चित कार्य पद्धति निर्धारित करे । फिर जो कुछ भी करना है, उसमें पूरी दिलचस्पी और एकाग्रता के साथ जुट पड़े ।

जीवन जीने की कला भाग–२/२७

आलस्य का स्वरूप :

शरीर को श्रम से बचाने का नाम है आलस्य और मन को निर्धारित काम की उपेक्षा करके जहाँ–तहाँ दौड़ाने का नाम है–प्रमाद । जहाँ इन दोनों का संयोग मिल जाए, वहाँ समझना चाहिए कि समय की बर्बादी और काम की असफलता दोनों साथ–साथ चलेंगी और मनुष्य ऐसा कुछ भी न कर सकेगा, जिसे महत्वपूर्ण या सराहनीय कहा जा सके । दुनिया में यदि कोई भयंकर बीमारी है, तो वह है आलस्य । आलस्य समस्त रोगों का राजा है । उसे मौत से भी अधिक भयंकर कह देना कोई अत्युक्ति न होगी । रोग मनुष्य के शरीर को प्रभावित करते हैं । आवश्यक उपचार करने पर कुछ ही समय में ये ठीक हो जाते हैं । मृत्यु भी स्वाभाविक घटना है किंतु आलस्य तो ऐसा भयंकर रोग है जो मनुष्य के तन, मन, धन, श्री, समृद्धि, बुद्धि सबको चौपट कर उसे जड़ता के फौलादी जाल में जकड़ लेता है । यह जीवित होते हुए भी मनुष्य को मृतवत् बना देता है । आलस्य के प्रभाव में पड़ने पर मनुष्य की क्रिया शक्ति कुंठित होने लगती है । शरीर शिथिल हो जाता है । मानव मन की यह विशेषता है कि कुछ न कुछ करते रहने का आदी है । जब क्रिया के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती, तो वह विचार और बातूनी दुनिया में काम करने लगता है । बड़ी–बड़ी गप्पें हाँकना, निरर्थक बातें करना, ख्याली दुनिया में उड़ना, आलसियों के काम रह जाते हैं । जिस तरह सोते समय मनुष्य स्वप्नों की दुनिया में तरह–तरह के दृश्य देखता है, कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी बड़ा धनी बन जाता है, तो कभी गरीब, दीन, भिखारी कभी दुःखी होता है तो कभी सुख के गीत गाता है, इसी तरह आलसी व्यक्ति भी दिवास्वप्न देखने में व्यस्त और थका–थका सा मालूम पड़ता है । यह दिन भर कल्पना के पंख लगाकर उड़ता रहता है । इन कल्पनाओं की दुनिया में उसे

उसी तरह अनुभूतियाँ होती हैं, जैसे बाह्य संसार के रंगमंच पर सक्रिय व्यक्ति को । कल्पना की दुनिया में सुख–दुःख के थपेड़े खाते–खाते आलसी, आंतरिक एवं बाह्य जीवन में खोखला बन जाता है और हाथ पर हाथ धरे बड़ी वेदना, निराशा, काल्पनिक दुःखों की पीड़ा का भारी बोझ उठाए असयम में ही कालकवलित हो जाता है । जीवन भर मरने की दुःखद कल्पना से भयभीत आलसी को मृत्यु के समय भी कुछ कम कष्ट नहीं होता । इतना ही क्यों जीवन में आने वाले दुःख कठिनाइयाँ भी उसकी कल्पना का संयोग पाकर सुरसा की तरह मुँह फाड़कर उसे भयभीत करते रहते हैं । असंतोष, निराशा, घुटन, भय, संदेह, आशंका, चिंताओं से ग्रस्त आलसी का नारकीय जीवन एक अभिशाप ही होता है ।

आलस्य एक मादक खुमारी :

आलस्य का आक्रमण सबसे ज्यादा खतरनाक है । उसे समझना, हल करना आसान बात नहीं है क्योंकि सबसे पहले आलस्य अपने छल फरेब का जाल फैलाकर मनुष्य की समझने–बूझने, समाधान करने की शक्ति को नष्ट करता है । आलस्य, आराम, सुख का लालच देकर मनुष्य में एक मादक खुमारी पैदा करता है, जिससे मनुष्य स्वतः ही इसकी शरण में चला जाता है । फिर यथार्थ की धरती पर कर्तव्य की कठोरता से बचने के लिए यह सरल रास्ता नजर आता है । यही कारण है कि बहुत से मनुष्य आलस्य के शिकार बन जाते हैं । आलस्य के आक्रमण के प्रारंभिक दौर में मनुष्य अपने काम को आगे के लिए टालने का प्रयत्न करता है । अपने कर्तव्य को छोड़ इधर–उधर मन बहलाने अथवा भागने का मार्ग ढूँढ़ने लगता है । इधर–उधर के निरर्थक कामों में मन दौड़ाता है । ऐसी स्थिति में कठोरता से काम लेना चाहिए और अपने सामने जो काम पड़ा है उसी को पूर्ण

करने के लिए जुट जाना चाहिए । मन को जबरन उस ओर लगा देना चाहिए ।

आलस्य के कारण शरीर के समस्त अंग शिथिल हो जाते हैं । हाथ–पैर, दिमाग, पाचन संस्थान, श्वांस प्रणाली सभी में विकृति पैदा हो जाती है और बैठे–बैठे शरीर अनेक रोगों का घर बन जाता है । इतना ही नहीं आलसी व्यक्ति दूसरों की सहानुभूति, सहयोग पाने एवं बहाने–बाजी के लिए साधारण रोगों को भी बहुत बढ़ा–चढ़ा कर कहता है । साधारण सी बीमारी भी उसे भयानक लगती है । इस तरह आलसी व्यक्ति जीवित होते हुए भी मृतवत् ही होता है । कर्मवीर के लिए मृत्यु कोई महत्व नहीं रखती । उसके लिए वह एक देह परिवर्तन की शुभ वेला होती है । इसलिए मृत्यु से भयंकर, समस्त रोगों से भी भयानक आलस्य रोग से बचने के लिए प्रत्येक व्यक्ति का सावधान रहना आवश्यक है ।

आलसी परावलंबी :

आलसी व्यक्ति एक परभागभोगी ही होता है । इस धरती पर परिश्रम करके ही अन्न–वस्त्र की व्यवस्था हो सकती है । यदि परमात्मा को मनुष्य की परिश्रमशीलता वांछनीय न होती तो वह मनुष्य का आहार रोटी वृक्षों पर उगाता । बने बनाए वस्त्रों को घास–फूस की तरह पैदा कर देता । मनुष्य को पेट भरने और तन ढकने के लिए भोजन–वस्त्र कड़ी मेहनत करके ही पैदा करना होता है । नियम है कि जब सब खाते–पहनते हैं तो सबको ही मेहनत तथा काम करना चाहिए । इसका कोई अर्थ नही कि एक कमाए और दूसरा बैठा–बैठा खाए । कोई काम किए बिना भोजन, वस्त्र का उपयोग करने वाला दूसरे के परिश्रम का चोर कहा गया है । अवश्य ही उसने हराम की तोड़कर संसार के किसी कोने में श्रम करने वाले किसी व्यक्ति का भाग हरण किया है । दूसरे का भाग चुराना नैतिक,

सामाजिक तथा आत्मिक रूप से पाप है और अकर्मण्य आलसी इस पाप को निर्लज्ज होकर करते ही रहते हैं । जो खाली ठाली रहकर निठल्ला बैठा रहता है, उसका शारीरिक ही नहीं मानसिक तथा आध्यात्मिक पतन भी हो जाता है । "खाली आदमी शैतान का साथी" वाली कहावत आलसी पर पूरी तरह चरितार्थ होती है । जो निठल्ला बैठा रहता है, उसे तरह–तरह की खुराफातें सूझती रहती हैं । यह विशेषता परिश्रमशीलता में ही है कि वह मनुष्य के मस्तिष्क में विकारपूर्ण विचार नहीं आने देती । पुरुषार्थी व्यक्ति को इतना समय नहीं रहता कि वह काम से फुरसत पाकर बेकार के ऊहापोह में लगा रहे और अकर्मण्य आलसी के पास इसके सिवाय कोई काम नहीं रहता, फलस्वरूप उसे अनेक प्रकार की ऐसी विकृतियाँ तथा दुर्गुण घेर लेते हैं कि जिससे उसके चरित्र का अधःपतन हो जाता है । लोग इस अभिशाप से दुराचारी तथा अपराधी बन जाया करते हैं । निठल्ले और निष्क्रिय बैठे रहने वाले व्यक्तियों का विचार संतुलन बिगड़ जाता है जिससे उन्हें ऐसी–ऐसी अनेक सनकें सूझा करती हैं जो व्यवहार जगत में पागलपन की संज्ञा पा सकती हैं ।

आलसी व्यक्ति के लिए किसी भी प्रकार की उत्कृष्टता प्राप्त करना कठिन है । कारण वह अपनी शक्तियों को आलस्य की केंचुली में ढके रहता है । उद्योग तथा परिश्रम द्वारा उन्हें विकसित नहीं कर पाता । जब तक उद्योग नहीं, परिश्रम प्रवृत्ति में नहीं, तब तक शक्तियों का विकास नहीं हो सकता । आलस्य और उन्नति साथ–साथ नहीं चल सकते । उद्योगी और परिश्रमी व्यक्ति ही आपको सुखी और समृद्ध दिखाई देंगे । मनुष्य जन्म भले ही निर्धन परिवार में हो, उसके पास जाति श्रेष्ठता या घर की जमीन जायदाद कुछ भी न हो, केवल उद्योग और श्रम की आदतें हों, आलस्य से मुक्त हो, तो वह धन और कीर्ति प्राप्त कर सकता है । कीर्ति और लक्ष्मी, श्रम और उद्योग के अधीन हैं ।

जीवन जीने की कला भाग–२/३१

जो आलस्य नामक शिथिल करने वाली और शक्तियों को पंगु बनाने वाली आलसी वृत्ति को छोड़ेगा, वह निश्चय ही प्रतिष्ठा और कीर्ति प्राप्त करेगा । संसार के इतिहास को उठाकर देख लीजिए, वे जातियाँ नष्ट हो गईं, जो आलसी और विलासी बनीं । जिस जाति और समाज में आलस्य भर जाता है, वह यश, प्रतिष्ठा और नेतृत्व तीनों ही दिशाओं में अवनति के मार्ग पर अग्रसर होता जाता है । इंद्रिय–सुख, विलास और आलस्य उसको जर्जर तथा अशक्त कर देते हैं । आलस्य एक प्रकार की बुरी आदत मात्र है । यदि माता पिता आरंभ से ही बच्चों में अनुशासन रखें और उनका मानसिक व शारीरिक कार्य सतर्कता से कराने की आदत डालें तो आगामी पीढ़ी भी सुधर सकती है ।

सामाजिक दरिद्रता का कारण आलस्य की महत्ता :

सामाजिक दरिद्रता का एक बड़ा कारण है–आलस्य । यहाँ पिछले दिनों श्रम को, श्रमजीवी को असम्मान की दृष्टि से देखा जाता रहा है । अछूत वे लोग कहलाए गए जो पसीने की रोटी कमाते थे । धोबी, जुलाहे, राज, मेमार आदि चूँकि वे कठोर श्रम करके अपनी रोटी कमाते थे, अस्तु उन्हें अछूत ठहरा दिया गया और जो बैठे–बैठे हराम की कमाई खाते थे, स्वयं श्रम करना तो दूर, उल्टे अपनी प्रारंभिक आवश्यकता पूरा करने के लिए दूसरे की सहायता पर निर्भर रहते थे, वे बड़े आदमी कहलाए गए । दुकान पर बैठे–बैठे तोंद फुलाने वाले, कपड़े पहनने तक के लिए नौकर रखने वाले हाथ पैर न हिलाने वाले लोगों को सौभाग्यशाली माना गया और सम्मानित किया गया । जो जितना कम काम करता है, उसे उतना ही बड़ा आदमी समझा गया और जो जितनी अधिक सेवा करता, उसे उतना ही छोटा आदमी कहा गया । इस दोषपूर्ण दृष्टिकोण का परिणाम यह हुआ कि श्रम से जी चुराने को, मेहनत करने को

दुर्भाग्य समझने की प्रवृत्ति अपने देश में पनपी और हरामखोरी बेहिसाब बढ़ी । आज जो गरीबी चारों ओर मुँह बाए खड़ी है, इसका बड़ा कारण श्रम की उपेक्षा ही है । ढलती आयु के लोग हरामखोरी अपना अधिकार मानते हैं । जैसे ही लड़के थोड़े बड़े हो गए कि पिता अपना कंधा डाल देता है और अपना अधिकार समझता है कि लड़कों के बड़े होते ही काम करने से इंकार कर दे और मटरगश्ती में दिन बिताए । यही बात स्त्रियों में है । सास बन जाने के बाद वे बहुओं पर हुक्म चलाने के बाद पत्ता हिलाने में अपनी बेइज्जती समझती हैं । फल यह होता है कि श्रमशील न होने से शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य सही रहने की संभावना नष्ट होती है । ये श्रम के लाभ जो परिवार एवं समाज को मिलने चाहिए, उसके बाद बंद हो जाते हैं । यह स्थिति बदली जानी चाहिए अन्यथा आलसी और हरामखोर ही बनते रहेंगे और भारी शारीरिक, मानसिक क्षति उठाते रहेंगे । लोहा निकम्मा पड़ा रहे तो उसे जंग खा जाता है । इसके मुकाबले काम करते–करते घिस कर नष्ट होने वाला उस्तरा अधिक दिन जीता है, अधिक चमकता है और अधिक उपयोगी सिद्ध होता है । इस प्रवृत्ति को निरंतर पनपने पर प्रगति की बहुत कुछ संभावना निर्भर है ।

यह आंदोलन हमें व्यायाम के माध्यम से आगे बढ़ाना चाहिए । हर व्यक्ति को व्यायाम की उपयोगिता और आवश्यकता समझनी चाहिए, जो लोग दिमागी श्रम तो करते हैं, पर शारीरिक मेहनत से बचते हैं, उन्हें व्यायाम द्वारा शरीर के प्रत्येक कल–पुर्जे को काम देकर उसे सशक्त बनाना चाहिए । आलस्य व्यक्ति को घुन की तरह खा जाता है । आलसी व्यक्ति का शरीर असंतुलित, मनोबल क्षीण, वाणी प्रभावहीन एवं चेहरा घिनौना हो जाता है । आलसी व्यक्ति की बाहर वाले तो दूर परिवार के सदस्य भी उपेक्षा करने लगते हैं । शरीर चुस्त–दुरुस्त होगा तो

हम सबके स्नेह, सम्मान एवं प्रशंसा के पात्र होंगे । वृद्ध लोग आलस्य में अपना समय बर्बाद करते रहते हैं, घर वालों को परेशान करते रहते हैं । घर वाले उनकी मृत्यु का इंतजार करते हैं । यदि वही वृद्ध प्रातः नित्य–प्रति क्रियाओं से निपट कर कहें, ''बहू लाओ, डिब्बा दे दो, मैं दूध ला देता हूँ, लाओ झोला दे दो, मैं सब्जी ले आता हूँ ।'' तो महाशय का टहलना भी हो जाएगा, गृह कार्य में सहयोग भी हो जाएगा । सभी उनका आदर सम्मान करेंगे ।

क्या किया जाए ?

आलस्य आपको अपमान का पात्र बना देता । आलसी व्यक्ति से लोग उसी प्रकार कतराते हैं जैसे छूत की बीमारी से ग्रस्त रोगी से । अतः आप आलस्य को पास फटकने मत दीजिए । आप थके, माँदे लौटे हैं, आपकी पत्नी आपके लिए रसोई में चाय बना रही है, आप मेहमान की भाँति मेज पर चाय की प्रतीक्षा करने के स्थान पर चाय की प्यालियाँ रसोई में से स्वयं ला तो सकते हैं ? आप बूढ़े हैं और दिन में टहलने जा रहे हैं, जाते समय पुत्रवधु से पूछना न भूलें–''बहू ! मैं बाजार जा रहा हूँ, कुछ मँगाना हो तो बता दो ।'' सायंकाल घर के छोटे बच्चों को इकट्ठा कर लीजिए, उन्हें कहानी सुनाइए, गिनती–पहाड़े याद कराइए, उनके साथ हँसते–हँसाते रहिए । आपका समय भी कट जाएगा और आपकी उपयोगिता वृद्धावस्था में भी सिद्ध होती रहेगी । इस प्रकार की छोटी–छोटी बातें आपको आलसी नहीं बनने देगी, साथ ही परिवार का प्यार सम्मान भी आपको मिलता रहेगा ।

विश्वासी बनिए । बिना विश्वास के काम नहीं चलता, किंतु जिस पर विश्वास करना है, उसे बुद्धि, प्रलोभन, दृढ़ता आदि से खूब परख लो ।

सादा जीवन उच्च विचार

बड़प्पन सबसे बुरा नशा :

यदि आलस्य से स्वयं को बचा लिया, तो परिवार के सदस्यों के स्नेह–सम्मान में हम सराबोर रहेंगे और घर में स्वर्ग जैसा वातावरण उपस्थित हो जाएगा । निर्वाह की दृष्टि से जीवन–क्रम हलका–फुलका होना चाहिए । लिप्सा–लालसाओं से लदी जिंदगी बहुत भारी पड़ती है । **महत्त्वाकांक्षी लोग न चैन से बैठते हैं न दूसरों को बैठने देते हैं । बड़प्पन का नशा, प्रचलित नशों में सबसे बुरा है । कुबेर और इंद्र बनने की ललक में, रावण और हिरण्यकशिपु जैसा वैभव बटोरने की रट लगाते–लगाते कितने चंगेज खाँ और सिकंदर इस दुनिया से हाथ मलते उठ गए, फिर अपने जैसे मक्खी–मच्छरों की क्या स्थिति, जिनके पास न कौशल है, न पराक्रम, न साध । वितृष्णा इतना ही कर सकती है कि चंद दिन तक जीने के लिए मिले हुए सुयोग का अपहरण कर ले । मृग–तृष्णा में भटकने वाले दिवास्वप्न देखते हैं और केवल निराशा, खीझ, थकान भर पल्ले पड़ने से मूर्खता पर सिर धुनते हैं ।**

यदि विलास और वैभव ही सब कुछ रहे और अहंता के प्रदर्शन बिना चैन न पड़े तो एक बात और भी समझ लेनी चाहिए कि इस प्रयास में वे सभी संभावनाएँ समाप्त हो जाएँगी जो हर घड़ी प्रसन्नता बनाए रहती हैं और जिनके कारण चेहरे पर मुस्कान और अंतराल में संतोष भरे उल्लास को छलकते देखा जाता है । मानवी गरिमा को अक्षुण्ण और सुविकसित बनाए रखने के लिए कुछ सोचना और बहुत कुछ करना होता है । इस हेतु जिन साधनों की आवश्यकता पड़ती है, उन्हें बड़प्पन का व्यामोह अजगर की तरह निगल जाता है ।

जीवन जीने की कला भाग–२/३५

औसत भारतीय स्तर का जीवन अपनाएँ :

साथियों को नीचा दिखाकर अपनी गरिमा सिद्ध करने वाले ठाट–बाट तो बना लेते हैं, पर जिस लोक सम्मान की आशा से वह सब किया गया था, वह मिलने की कोई आशा किरण दीखती नहीं, उलटे ईर्ष्या भड़कती है । भूखों की मंडली में बैठकर जब कोई रबड़ी चाटता है, तो सौभाग्यशाली कहलाने का श्रेय कहाँ बटोर पाता है । उलटे उस पर आक्रोश बरसता है और निष्ठुरता का लांछन लगता है । लगे हाथों कहने वाले यह भी कहते है कि यह अनीति का उपार्जन है अन्यथा ईमानदार होने पर तो यह हमारे जैसा ही रहता । मनोविज्ञान समझने वाले जानते हैं कि साथियों की तुलना में बहुत अधिक विलास वैभव एकत्रित करना गरिमा अर्जित नहीं कर पाता वरन् ऐसा आक्रोश उत्पन्न करता है जिसकी चपेट में जाने कितने आक्रमण सहने का कष्ट उठाना पड़ता है । इसलिए दूरदर्शिता सदा यही कहती रही है कि संपन्नता अर्जित करने के लिए अनेक खतरे हैं, जबकि सादगी अपनाने से महानता उभरती है और जन–जन का स्नेह सहयोग संभव होता है ।

सादा जीवन उच्च विचार का सिद्धांत ऐसा है जिसमें जीवन की सार्थकता, सफलता जुड़ी हुई है एवं प्रसन्नता के समस्त सूत्रों का समावेश है । हलका–फुलका जीवन अर्थात् सादगी, मितव्ययिता और बिना विलास वैभव का सीधा–सादा निर्वाह । इसके लिए औसत भारतीय स्तर का मापदंड मानकर चलना होता है अन्यथा यह पता ही न चलेगा कि जिस वैभव का उपभोग चल रहा है वह आवश्यक है या अनावश्यक, उचित है या अनुचित । जिसकी अपनी तृष्णा आकाश चूमती हो उसके लिए यह अनुमान लगा सकना कठिन है कि औसत मनुष्य को किस स्तर का निर्वाह अपनाना पड़ता है । वे सदा धनवान् बनने के सपने देखते हैं और तस्करों, लोलुपों और निष्ठुरों के द्वारा अपनाए जाने जैसे विलास–वैभव को स्वाभाविक मानते हैं । इस

राह पर चलते तो अनेक हैं । जो चल नहीं पाते वे भी ललक वैसी ही सँजोए रहते हैं । परिणति स्पष्ट है, कदाचित ही कोई अपनी ललक पूरी कर पाते हों । मधुमक्खियों के वैभव को कौन सहन करता है ? छत्ता तोड़ने के लिए बहेलिए ही नहीं गीदड़ और बंदर तक घात लगाए रहते हैं । बढ़ा हुआ वैभव रुदन के अतिरिक्त और कुछ उत्पन्न नहीं कर सकता । उससे दुर्व्यसन और अहंकार समान रूप में बढ़ते हैं । यह दोनों ही ऐसे हैं जो शहतीर में लगे घुन की तरह उसे गुप-चुप खोखला करते और धराशायी करने तक अपने प्रयास में निरत रहते हैं । अधिक जोड़ने की अधिक भोगने की ललक में मनुष्य कुकृत्य तो करते ही हैं उसका खर्च भी सीधे रास्ते नहीं होता, या तो मनुष्य स्वयं उसे दुर्व्यसनों में उड़ाता है या फिर उसे ईर्ष्यालुओं के आक्रमण का शिकार बनना पड़ता है । पारा किसी को पचता नहीं ।

<u>महानता और संपन्नता परस्पर शत्रु :</u>

अनावश्यक वैभव की भी ऐसी ही दुर्गति होती है । यह स्वयं तो हजार छेद बनाकर अपनी बिरादरी वालों से मिलने दौड़ता ही है, साथ ही जहाँ भी भागता है, वहाँ अनेकानेक रिसते हुए घाव छोड़ जाता है । जो जन्म-जन्मांतरों तक दुखते और कसकते हैं । इसलिए आदर्शों की बात सोचने वालों को सर्वप्रथम वैभव विसर्जन की तैयारी करने का परामर्श दिया जाता है अन्यथा लिप्सा बनी रहने पर परमार्थ के नाम पर चित्र-विचित्र विडंबनाएँ रचते रहने के अतिरिक्त और कुछ बन नहीं पड़ेगा । **महानता और संपन्नता में एक प्रकार से शत्रुता है, जहाँ एक के पैर जमेंगे वहाँ दूसरे को पलायन करना पड़ेगा ।** तथ्य की यथार्थता एवं गंभीरता को समझने वाले वाजिश्रवा जैसे सर्वमेध यज्ञ रचाते और अपने शरीर के कपड़े तक उतारकर परमार्थ प्रयोजन के लिए दान करते रहे हैं । ऋषि परंपरा यही है । बुद्ध, गाँधी का ही नहीं, प्रत्येक साधु और ब्राह्मण परंपरा अपनाने वालों को अपना प्रथम प्रयास यहीं से आरंभ करना पड़ा है । विसर्जन समर्पण बन पड़े तो ही यह आशा बँधती है कि महानता के साथ एकत्व-अद्वैत की स्थिति

बन सके । त्याग–वैराग्य की शास्त्रकारों ने श्रेय मार्ग पर चलने वालों के निमित्त पग–पग पर आवश्यकता बताई है, उसमें यही रहस्य है कि जब तक तृष्णा से पिंड न छूटेगा तब तक श्रेष्ठता में न मन लगेगा और न तन जुटेगा । लगन कहीं लगी रहे तो फिर लकीर पीटने भर की विडंबना ही शेष रह जाती है । उस झुनझुने से अपने आपको बहलाया–फुसलाया भर जा सकता है ।

परस्पर घोर मतभेद रखने वाले अध्यात्मवाद और साम्यवाद को इस केंद्र पर सर्वथा एक मत देखा जा सकता है कि व्यक्ति को औसत नागरिक स्तर का निर्वाह क्रम अपनाने के लिए बाध्य किया जाए । अध्यात्म क्षेत्र ने इसके लिए पुण्य परमार्थ का, त्याग वैराग्य का, स्वर्ग मुक्ति का दार्शनिक चक्रव्यूह रचा है । साम्यवाद ने झटके की नीति अपनाई है और आदमी की भलमनसाहत को अस्वीकार करते हुए गर्दन दबोचकर जो पास पल्ले है उसे समाज की संपदा मानने के लिए बाध्य किया, तरीके अपने–अपने हैं । नींद की गोली खाकर मरा जाए या तलवार से गर्दन कटे, मात्र तरीकों में ही भिन्नता है । आदर्शवाद की किसी भी धारा को यह स्वीकार नहीं कि मनुष्य विलासी, संग्रही, अपव्ययी बने, उद्धत विडंबना रचे और मुफ्तखोरों के लिए उत्तराधिकार में छोड़ मरे हर दृष्टि से यह अनैतिक है ।

श्रम द्वारा अर्जित धन ही ग्राह्य :

कौशल, पराक्रम, श्रम, समय और वैभव यह सभी विभूतियाँ ईश्वर प्रदत्त हैं । इसी को समाज प्रदत्त भी कहा जा सकता है । जिसने दिया है उसे कृतज्ञतापूर्वक लौटा देने में ही भलमनसाहत है । इस प्रवृत्ति को अपनाने में जो दुराचरण के प्रवाह प्रचलन को चीरकर अपनी शालीनता का परिचय दे पाता है, वही सराहा जाता है । पसीने से ही संपदा कमाई जाती है या कमाई जानी चाहिए । लॉटरी से लेकर जुए–सट्टे का, जमीन में गड़ा, उत्तराधिकार से मिला या उजड्डपन से बटोरा वैभव, औचित्य की मर्यादाओं से हटकर होने के कारण अग्राह्य

एवं अवांछनीय है । वस्तुतः धन मनुष्य के श्रम, समय और कौशल का ही प्रतिफल होना चाहिए । उसके अनुसार न्यूनतम अपने लिए और अधिकतम सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के निमित्त लगना चाहिए । जिस प्रकार संपन्नता उपार्जन के लिए अपना सब कुछ न सही, बहुत कुछ नियोजित करना पड़ता है । ठीक उसी प्रकार महानता अर्जित करने के लिए भी श्रम, समय एवं मनोयोग का बहुत बड़ा भाग नियोजित करना पड़ता है । यदि उन विभूतियों पर पहले से ही लोभ-लिप्सा ने आधिपत्य जमा रखा हो तो फिर महानता अर्जित करने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता पड़ती है वे यदि पास में होंगे ही नहीं तब फिर मनोरथ कैसे पूरे हो सकेंगे ? मात्र कामना, कल्पना करने से, पूजा-पाठ करने से कोई भी श्रेष्ठता का वरण नहीं कर सका है । ईश्वर भक्त भी महामानवों की पंक्ति में बैठ सकने में समर्थ नहीं हुए हैं । उत्कृष्टता तो मूल्य देकर खरीदी जा सकती है । इस खरीद के लिए जो चाहिए उसे संपन्नता की ललक पर अंकुश लगाकर ही बढ़ाया जा सकता है ।

निकृष्टता आकर्षक किंतु कष्टदायक :

चुनाव दो में से एक का करना है । निकृष्ट विचार रखकर घिनौना जीवन जिया जाए, संकीर्ण स्वार्थपरता की सड़ी-गली कीचड़ में, कुलबुलाते-तिलमिलाते कीड़ों जैसा शिश्नोदरपरायण बना जाए या फिर उत्कृष्ट स्तर की विचारणा अपनाकर सादगी से सौम्य, सात्त्विक, निस्पृह रहकर महानता को वरण किया जाए । दोनों में मौलिक अंतर एक ही है । निकृष्टता आरंभ में आकर्षक लगती है, किंतु परिणाम की दृष्टि से विघातक विष जैसी कष्टदायक सिद्ध होती है । इसके विपरीत उत्कृष्टता के मार्ग का आरंभ बीज की तरह गलने जैसा होता है किंतु कुछ समय उपरांत अंकुरित होने, लहलहाने एवं फूलने-फलने के अवसर निश्चित रूप में उपलब्ध होने लगते हैं । अदूरदर्शी तात्कालिक आकर्षण के लिए आतुर होते हैं और

आटे के लोभ में गला–फँसाकर बेमौत मरने वाली मछली का उदाहरण बनते हैं । दूसरे वे हैं जो किसान, माली, विद्यार्थी या व्यवसायी की तरह अपनी श्रम–साधना सत्प्रयोजन के लिए लगाते और अंततः बहुमूल्य फसल से अपने कोठे भरते हैं ।

वैयक्तिक आकांक्षाओं को सीमित करें :

सादा जीवन उच्च विचार का राजमार्ग हर किसी के लिए श्रेयस्कर है । उसमें आवश्यकताओं और सुविधाओं पर इतना अंकुश लगाना पड़ता है जिसमें शरीर के लिए मात्र औसत नागरिक जितनी व्यवस्था जुट सके । वैयक्तिक आकांक्षाओं को इतना ही स्वल्प एवं सीमित रखना चाहिए ताकि संसार में जितने साधन हैं उन्हें मिल बाँटकर खाया जा सके । हर किसी के हिस्से में गुजारे जितना आ सके । ऊँची दीवार उठाने के लिए कहीं न कहीं गड्ढा करना पड़ता है । अमीर बनने में, विलास–वैभव जुटाने में जिस संपदा की आवश्यकता पड़ती है, उसका संचय बिना दूसरों का रक्त पिए अपनी कोठी तथा तिजोरी की शोभा बढ़ाने के लिए हो ही नहीं सकता । जो अधिक उपार्जन करने योग्य हैं, उनके ऊपर एक अतिरिक्त उत्तरदायित्व यह आता है कि सादगी से गुजारा करने के उपरांत जो बचता है, उसे सत्प्रयोजनों के लिए हाथों–हाथ लौटा दें । वरिष्ठता के बदले श्रेय मिलने का सौभाग्य ही प्राप्त है । उपार्जन, अभिवर्द्धन के कौशल, व्यवस्था और सूझबूझ की विशेषता का प्रतिफल इतना ही हो सकता है कि उन्हें सराहा, सम्मानित किया और श्रेय दिया जाए । इसके बदले उन्हें अधिक संपदा–सुविधाओं जैसे लाभों की न तो माँग ही करनी चाहिए और न वैसा कुछ उन पर लाद कर गरिमा का अपहरण ही होना चाहिए । घर के बड़े या कमाऊ लोग मात्र अधिक श्रेय पाकर संतुष्ट हो जाते हैं । व्यक्तिगत उपभोग के लिए अधिक संपत्ति उड़ाते रहने की छूट नहीं माँगते । वे जानते हैं कि संयुक्त परिवार में सभी का समान हक है । कमाऊ हीरे–मोतियों से

लदे और बिना कमाऊ चिथड़े लपेट कर घूमें तो यह संयुक्त परिवार कहाँ रहा ? **यह समूचा समाज एक परिवार है । उसके वरिष्ठों को कनिष्ठों का अधिक ध्यान रखना चाहिए ।** अभिभावक स्वयं दूध न पीकर भी बच्चों के लिए पैसे किसी प्रकार जुटाते हैं । मरीज के लिए फलों का प्रबंध किया जाता है । जबकि समर्थ दाल और नमक के सहारे ही रोटी गले उतारते रहते हैं । यदि समर्थ का विशेष अधिकार माना जाए तो फिर असमर्थों का भगवान ही रक्षक है । उस आपाधापी के रहते मनुष्य को समाज की सभ्यता, संस्कृति, नीति, उदारता जैसे आदर्शों की चर्चा करने का हक न रह जाएगा । जिसकी लाठी उसकी भैंस का जंगली कानून यदि मनुष्यों में भी चल गया और सुयोग्यों ने अधिक सुविधा साधन हड़पना प्रारंभ कर दिया तो समझना चाहिए कि मनुष्य ने अपनी नैतिक वरिष्ठता गँवा दी और प्रेत–पिशाच जैसी रीति–नीति अपना ली ।

मितव्ययिता कृपणता नहीं :

सादा जीवन उच्च विचार का सिद्धांत मानवीय जीवन शैली की सही व्याख्या करता है । जिसके विचार श्रेष्ठ हों, जो भावना के क्षेत्र में उत्कृष्टता सँजोए हों उसे अपने ऊपर यह अनुबंध कठोरतापूर्वक लागू करना चाहिए कि दिनचर्या सादगी एवं मितव्ययिता से पूर्ण हो । मितव्ययिता का अर्थ कृपणता बरतना और कुपात्रों के लिए संपदा जमा करते जाना नहीं है वरन् यह है कि औसत नागरिक स्तर शिरोधार्य करते हुए पूरी सामर्थ्य के साथ श्रम किया जाए और जो निर्वाह से अधिक हो उसे हाथों–हाथ सत्प्रयोजनों के लिए लगा दिया जाए ।

क्या किया जाए ?

बड़प्पन के प्रदर्शन से अहंकार की तुष्टि होती है । आपका अहंकार आपके चारों ओर के समाज को ही नहीं भाएगा । परमेश्वर तो अहंकार से दूर रहता ही है । अत: ऐसे बड़प्पन को दूर से ही अलविदा कह दीजिए । जो आपका लोक–परलोक

दोनों का विनाश करता है । अतः आज सर्वप्रथम अपनी तथा अपने परिवार की समीक्षा कीजिए । इस संबंध में कुछ बिंदु प्रश्न रूप में दिए जा रहे हैं । इनका उत्तर स्वयं से पूछिए–

१–क्या मेरे पास इतने अधिक कपड़े हैं जिनका उपयोग में सप्ताह में एक बार भी नहीं कर पाता हूँ ?

२–क्या मैं सप्ताह में एक बार अपने कपड़े स्वयं धोता और उन पर प्रेस करता हूँ ?

३–मेरे घर में कितने बिजली के पंखे और कूलर हैं ? क्या वे मेरी आवश्यकता से अधिक हैं ?

४–क्या मेरे पास वाशिंग मशीन है ? क्या परिवार में उसकी वास्तव में आवश्यकता है ? यदि हाँ तो क्यों ?

५–मेरे परिवार में नाश्ते में क्या खाया जाता है ? क्या उससे सस्ता एवं स्वादिष्ट नाश्ता घर में तैयार हो सकता है ? कारण भी सोचिए ?

६–क्या मेरे परिवार में खाना बनाने, बर्तन माँजने, झाड़ू पौंछा लगाने वाले सेवक अथवा सेविकाएँ हैं ? यदि हाँ तो क्या उनकी उपयोगिता मेरे परिवार के लिए है ? कारण सहित विचार करें ?

७–क्या मेरे परिवार में एक से अधिक टेलीविजन सैट हैं ? क्या एक से काम नहीं चलाया जा सकता है ?

८–क्या मेरा ड्राइंग रूम मँहगे पर्दों, कालीन, पेंटिंग्स एवं फर्नीचर से सुसज्जित है ?

आप आत्मसमीक्षा करने के पश्चात् स्वयं समझ जाएँगे कि औसत व्यक्ति के स्तर की दृष्टि से कितनी वस्तुएँ आपके घर में अनावश्यक एवं अधिक हैं ? धीरे–धीरे आप उन्हें कम करते जाइए । अतिरिक्त वस्तुओं को रिप्लेस करने के स्थान पर एक–एक करके उनके बिना काम चलाने की आदत डालिए । किसी वस्तु में मोह के प्रतिष्ठात्मक प्रतीक के रूप में मत लीजिए ।

सफल और संतुष्ट जीवन

एक-सी क्षमताएँ-फिर एक सफल दूसरा असफल क्यों ?

जीवन में कृपण बनकर धन जोड़–जोड़ कर संसार से चले जाने और बाद में संतान को बिना परिश्रम के अर्जित धन संपत्ति के लिए लड़ाने से अच्छा है कि पूर्ण पुरुषार्थ करके कमाए धन में से केवल आवश्यक ही अपने तथा अपने परिवार के लिए लगाएँ और शेष का सत्प्रयोजनों के लिए सदुपयोग करें। परमात्मा ने संसार के अन्य प्राणियों के साथ मनुष्य को भी मुक्तहस्त से जो संपदा वितरित की है, उससे कुछ लोग जीवन काल में संतुष्ट प्रतीत होते हैं किंतु कुछ मनुष्य निरंतर असंतोष की आग में जलते–दहकते रहते हैं। हमेशा उद्विग्न बेचैन बने रहते हैं। एक जैसी क्षमताएँ जन्म से ही प्राप्त करते हुए भी कुछ व्यक्ति जिस भी क्षेत्र में उतरते हैं, सफलताएँ अर्जित करते जाते हैं, किंतु कुछ जीवन पर्यंत, दीन–हीन, गई–गुजरी परिस्थितियों में बने रहते हैं और किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो पाते हैं। ऐसे लोग परावलंबी बने जीवन को घसीटते और किसी तरह शेष दिन पूरे करते हैं। एक की सफलता और दूसरे की असफलता को देखकर मन में यह प्रश्न सहज ही उठता है कि सफल और असफल होने के मूलभूत कारण कौन–कौन से हैं ? किन विशेषताओं के रहने से कुछ व्यक्ति जिस भी क्षेत्र में उतरते हैं अपने लक्ष्य में सफल हो जाते हैं, जबकि दूसरों के द्वारा उनकी उपेक्षा कर देने से असफलता ही हाथ लगती है। असफल होने पर उद्विग्न होना सामान्य है, किंतु कभी–कभी अनुचित ढंग से सफल होने के पश्चात् भी व्यक्ति उद्विग्न हो जाता है। बाहर तो वह सफलता का दंभ प्रदर्शन करता है, किंतु मन

ही मन वह सफल होने के बावजूद असंतोष अनुभव करता है । अतः आज हमें वह सूत्र समझने हैं जिनका अवलंबन लेने पर मनुष्य सफल और संतुष्ट जीवन जी सकता है ।

सर्वप्रथम लक्ष्य निर्धारित करें :

समाज के अधिकांश व्यक्तियों का जीवनक्रम लक्ष्य विहीन होता है । सफल व्यक्तियों को देखकर उनका मन भी वह सौभाग्य प्राप्त करने के लिए ललचाता रहता है । कभी एक दिशा में बढ़ने की सोचते हैं और कभी दूसरी । विद्वान को देखकर विद्वान, कलाकार को देखकर कलाकार बनने की ललक उठती है । कभी धनवान होने की तो कभी बलवान बनने की बात सोचते हैं । अपना कोई सुनिश्चित लक्ष्य निर्धारित नहीं कर पाते हैं । फलतः एक दिशा में क्षमताओं का नियोजन नहीं हो पाता । बिखराव के कारण कोई प्रयोजन पूरा नहीं हो पाता है । असफलता ही हाथ लगती है ।

लक्ष्य प्राप्ति में अभिरुचि जाग्रत करें :

सफलता का दूसरा सूत्र है अभिरुचि का होना । जो लक्ष्य चुना गया है उसके प्रति उत्साह और उमंग जगाना–मनोयोग लगाना । लक्ष्य के प्रति उत्साह, उमंग न हो, मनोयोग न जुट सके तो सफलता सदा संदिग्ध बनी रहेगी । आधे–अधूरे मन से, बेगार टालने जैसे काम करने पर किसी भी महत्वपूर्ण उपलब्धि की आशा नहीं की जा सकती । मनोविज्ञान का एक सिद्धांत है कि उत्साह और उमंग शक्तियों का स्रोत है । इनके अभाव में मानसिक शक्तियाँ परिपूर्ण होते हुए भी किसी काम में प्रयुक्त नहीं हो पातीं ।

उत्साह किसी भी कार्य का प्राण है । अतएव अभिरुचि का अर्थ है कि जो भी लक्ष्य निर्धारित किया गया है, उसमें पूर्ण मनोयोग जुटाया जाए और उत्साह में कमी न आने पाए । प्रायः किसी काम के आरंभ में जितनी अभिरुचि दिखाई पड़ती है उतनी बाद में नहीं रह पाती । फलस्वरूप जितनी तत्परता और तन्मयता लक्ष्य के प्रति सतत् बनी रहनी चाहिए उतनी न होने

से आधी–अधूरी सफलता ही मिल पाती है ।

क्षमताओं का सुनियोजन करें :

सफलता अर्जित करने का तीसरा सूत्र है–अपनी क्षमताओं का सुनियोजन, सदुपयोग । उपलब्ध संपदाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है–समय । शरीर, मन और मस्तिष्क की क्षमता का तथा समय रूपी संपदा का सही उपयोग असामान्य उपलब्धियों का कारण बनता है । निर्धारित लक्ष्य की दिशा में समय के एक–एक क्षण के सदुपयोग से चमत्कारी परिणाम निकलते हैं । शरीर से श्रम करना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् मस्तिष्क की क्षमता का उसमें पूर्ण योगदान होना आवश्यक है । मस्तिष्क में असीम संभावनाएँ भरी पड़ी हैं । विचारों की अस्त–व्यस्तता और एक दिशा में सुनियोजन न बन पाने से ही उसकी अधिकांश शक्ति व्यर्थ चली जाती है । शक्तियों के बिखराव से कोई विशिष्ट उपलब्धि हासिल नहीं हो पाती । सूर्य की किरणें बिखरी होने से उनकी शक्ति का पूरा लाभ नहीं मिल पाता । आतिशी शीशे पर केंद्रीभूत होकर वे प्रचंड अग्नि का रूप ले लेती हैं । मस्तिष्क की सामर्थ्य के संदर्भ में भी यही बात लागू होती है ।

सफल और असफल व्यक्तियों की आरंभिक क्षमता, योग्यता और अन्य बाह्य परिस्थितियों की तुलना करने पर कोई विशेष अंतर नहीं दीखता । फिर भी दोनों की स्थिति में जमीन–आसमान का अंतर आ जाता है । इसका एक मात्र कारण है कि एक ने अपनी क्षमताओं को एक सुनिश्चित लक्ष्य की ओर सुनियोजित किया, जबकि दूसरे के जीवन में लक्ष्य विहीनता और अस्त–व्यस्तता बनी रही । दैनिक व्यवहार और लोकाचार में भूलें, त्रुटियाँ और अपराध होने भी संभव हैं । अच्छे–बुरे का विवेक सदैव नहीं रहता । कुछ न कुछ दोष तो सभी में होते हैं । पूर्ण रूप से सद्‌गुणी और सदाचारी व्यक्ति बहुत ही थोड़े मिलेंगे । अधिकांश व्यक्तियों के स्वभाव में कुछ न कुछ बुराइयाँ जरूर होती हैं ।

अपने दोष साहसपूर्वक स्वीकार करें :

दोष मनुष्य की स्वाभाविक प्रक्रिया है किंतु ९९ प्रतिशत स्थितियों में कोई भी मनुष्य अपने को दोषी नहीं ठहराता, चाहे उससे कितनी ही भारी भूल क्यों न हुई हो ? **भूल को स्वीकार कर लेने में हानि कुछ भी नहीं है । व्यक्ति का मन निर्मल हो जाता है और वह आगे जीवन के लिए स्वस्थ चित्त एवं जागरूक हो जाता है,** किंतु दोष को जब दोष मानकर स्वीकार नहीं किया जाता तो मनुष्य का दुस्साहस उद्दीप्त होता है और उसे अपराध करने में ही आनंद आने लगता है । छिपाई हुई भूलें भी अनेक दूसरे प्रकार के अनर्थों को जन्म देती हैं । **अपने दोषों को छिपाने से मनुष्य की अशांति बढ़ती है किंतु इन दोषों को प्रकट कर दिया जाए तो मस्तिष्क का बहुत–सा बोझ हलका हो जाता है और आत्मविकास का नैतिक पथ प्रशस्त होने लगता है ।**

अपने दोष स्वीकार कर लेने का अर्थ है सच्चाई के प्रति प्रेम । अपनी बातों को ठीक मानने का अर्थ तो यही होता है कि दूसरे सब झूठे हैं । इस प्रकार अहंकार, अज्ञान का द्योतक है । इस असहिष्णुता से घृणा और विरोध बढ़ता है, सत्य की प्राप्ति नहीं होती । सत्य की प्राप्ति तभी संभव है जब हम अपनी त्रुटियों, भूलों और कमियों को निष्पक्ष भाव से देखें । मनुष्य का मन ऐसा हो जैसा किसी बाग का रखवाला होता है । माली का काम केवल पौधा लगाना ही नहीं वरन् फूलों के पौधों के आस–पास उगने वाले अनावश्यक झाड़–झंखाड़ को भी उखाड़ कर फेंकना है । गुणों की पौध भी तभी अंकुरित एवं पल्लवित हो सकती है जब मानसिक विद्वेषों को समय–समय पर मस्तिष्क से निकाला जाता रहे । इससे चित्त, मन, स्वास्थ्य प्रसन्न और मस्तिष्क विकासशील बना रहता है ।

परदोष दर्शन से बचें :

अपने दोष व्यक्त करते हुए आंतरिक निष्कपटता पा लेना जितना जरूरी है, उतना ही दोषान्वेषण की प्रवृत्ति के त्याग में भी सावधान रहना चाहिए । **मन में भरी हुई बुराइयों की सड़ाँध**

से कुछ कम घातक प्रभाव परदोष दर्शन का नहीं होता । मन को दोषों में रस नहीं लेने देना चाहिए । फिर वे चाहे अपने हों चाहे पराए । दूसरों में दोष न निकालना, दूसरों को उन दोषों से उतना नहीं बचाता जितना अपने को बचाता है । यदि आप गुणों का चिंतन न करें केवल अवगुणों पर ही दृष्टिपात करें तो अपना प्रत्येक परिजन भी अनेक बुराइयों, दोषों से ही ग्रस्त दिखाई देगा । अतः स्नेह, आत्मीयता, सौजन्यता तथा प्रेमपूर्ण व्यवहार में कमी आएगी, जिससे जीवन के सुखों का अभाव हो जाएगा । अपने बच्चों के छोटे–छोटे दोष भूल जाने की पिता की दृष्टि ही सच्ची होती है । माँ यदि बेटों की गलतियों को खोजा करे तो उसे दंड देने से ही फुर्सत न मिले । दूसरों के अवगुणों को उपेक्षा की दृष्टि से ही देखना उचित है, जबकि स्वयं के संबंध में अत्यंत ही कड़ा रुख होना चाहिए । अपनी बुराइयाँ देखने एवं उनके निराकरण का प्रयास करना नित्य अनिवार्य माना जाए ।

निंदा के प्रति सकारात्मक रुख अपनाएँ :

जीवन में कई बार ऐसी परिस्थितियाँ सामने आती हैं जो असह्य होती हैं और मन को खिन्न, दुःखी तथा उदास बना देती हैं । इसी तरह की परिस्थितियों में एक है–किसी के द्वारा अपनी आलोचना या निंदा किया जाना । सामान्यतः मनुष्य अपने लिए प्रशंसा ही सुनना चाहता है । किसी व्यक्ति में कितने ही दोष–दुर्गुण क्यों न भरे हों, उसे अपनी कमियाँ दिखाई नहीं देतीं । दिखाई देती भी हैं तो वह उनके लिए अपने स्वभाव को नहीं, परिस्थितियों को ही जिम्मेदार ठहराता है । गलतियाँ होती हैं तो कारण बताया जाता है कि परिस्थितियाँ ही अमुक प्रकार की थी, जिनमें ऐसा होना स्वाभाविक था । गलतियाँ करने और स्वभाव में त्रुटियाँ होने के बावजूद भी मनुष्य उन्हें स्वयं तो नजरअंदाज करता ही है, अपने साथियों, मित्रों–परिचितों और अन्य लोगों से भी यह अपेक्षा करता है कि वह भी उन परिस्थितियों को नजरअंदाज कर दें ।

एक तो मनुष्य को अपनी कमियाँ, त्रुटियाँ कम ही दिखाई देती हैं और दूसरे दिखाई भी देती हैं तो वह इतना असहिष्णु अनुदार होता है कि किसी और के द्वारा उनकी ओर इंगित किया जाना सहन नहीं कर पाता। इसे व्यक्ति का अहंकार भी कह सकते हैं कि वह दूसरों को अपने दोषदर्शन का अधिकार देना नहीं चाहता और यदि कोई दोष देखता या बताता है तो न केवल दुखी होता है वरन् उनका प्रतिकार करने के लिए भी कटिबद्ध हो जाता है। अपनी निंदा–आलोचना को न सह पाना एक कमजोरी ही कही जाएगी। उसी तरह की कमजोरी कि व्यक्ति सुखकर अनुकूल परिस्थितियों की कामना करता है और दुःखदायी प्रतिकूल परिस्थितियों से घबराकर दूर भागता है। उसी प्रकार मनुष्य अपनी प्रशंसा सुनना तो पसंद करता है, किंतु निंदा या आलोचना से बचना चाहता है। जबकि निंदा–आलोचना प्रशंसा का ही दूसरा पक्ष है। दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं। जो व्यक्ति जितने प्रशंसित और चर्चित होते हैं, उनकी उतनी ही निंदा–आलोचना भी होती है।

सचमुच व्यक्ति यदि अपनी निंदा को सकारात्मक भाव से स्वीकार करने लगे तो इसमें हित और उत्कर्ष साधन ही होता है। कई बार यह निंदा अपने प्रकट–अप्रकट दोषों की ओर इंगित करती है तथा उन्हें सुधारने की प्रेरणा देती है तो कई बार जब अतिरंजित ढंग से आलोचना–निंदा की जाती है तो वह उन दोषों की ओर से सतर्क करती है।

निंदा एवं आलोचना से रुष्ट होने, दुःखी होने या प्रतिकार लेने की भावना रखने की अपेक्षा रचनात्मक उपयोग करने की ही बात सोचनी चाहिए। इसी में भला है और इसी में हित। यदि निंदा–आलोचना को सहज भाव से स्वीकार किया जाए तो मनीषियों का कथन है कि इससे दुर्गुणों का विनाश हो जाता है। निंदा, आलोचना का उपयोग अपने उत्कर्ष एवं आत्मपरिष्कार के लिए भी किया जा सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं है। चाहिए वह दृष्टि जो निंदा के प्रकाश में अपने दोष–दुर्गुणों को

खोज सके और चाहिए वह सहिष्णुता जो निंदा–आलोचना सह सके ।

क्या किया जाए ?

हर व्यक्ति जीवन में सफलता पाना चाहता है । आप भी सफल होना चाहेंगे । कृपया इस यूनिट में सुझाए गए छः सूत्रों को अपने जीवन में अपनाएँ, उनका प्रयोग करें । आप देखेंगे कि सफलता के साथ–साथ आपका मुखमंडल आंतरिक संतोष की कांति से चमक रहा होगा । इसके लिए संपूर्ण प्रयास आपको ही करना है । आप कक्षा १२ के विद्यार्थी हैं । आपकी इच्छा इंजीनियर बनने की है । अब सबसे पहले आपको यह सुनिश्चित करना होगा कि आपको किस शाखा को वरीयता देनी है । आपको समाचार पत्रों द्वारा प्रवेश परीक्षा हेतु आवेदन करने की तिथियाँ ज्ञात करनी हैं । आवेदन पत्र प्राप्त करने के साथ–साथ उसे सब प्रकार से पूर्ण करके निर्धारित पते पर, निर्धारित तिथि तक, निर्धारित शुल्क सहित भेज देना है । अब आपको अपनी क्षमताओं का इस प्रकार सुनियोजन करना है जिससे आप कक्षा १२ की परीक्षा की तैयारी भी करते रहें और नियमित रूप से अभियंत्रण प्रवेश परीक्षा हेतु अध्ययन भी जारी रखें । आपकी अभिरुचि इतनी जाग्रत हो और एकाग्रता इतनी सघन हो कि दोनों परीक्षाओं की तैयारी के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में आपका मन ही न लगे । इसी बीच परिवार में कोई आपको टोका–टाकी कर दे तो आप आवेशित न हों, प्रतिक्रिया स्वरूप अन्यों की कमियाँ खोजने के बजाय विचार करें । संभव है, आपकी ही कोई कमी हो । यदि आप में कमी हो, तो उसे साहसपूर्वक स्वीकार करें । हमें विश्वास है कि इस पद्धति से आप सफल भी होंगे और संतुष्ट भी ।

उद्देश्य रहित जीवन जीना केवल अपनी लाश ढोने के समान है ।

यूनिट-१५

द्वेष-दुर्भाव से कोई लाभ नहीं

द्वेष का स्थायी कुप्रभाव :

एक जैसी क्षमताएँ होते हुए भी एक व्यक्ति असफलता, अपमान और असंतोष की आग में जलता दिखाई देता है जबकि दूसरा सफलता पर सफलता अर्जित करते हुए समाज का सिरमौर बन जाता है । निष्कर्ष यह निकला था कि लक्ष्य-निर्धारण, लक्ष्य के प्रति अभिरुचि-जागरण, क्षमताओं का सुनियोजन, आत्मस्वीकृति, निंदा-आलोचना की सकारात्मक स्वीकृति आदि गुण जीवन में सफल होने में विशेष सहायक होते हैं। आए दिन हम समाज में देखते हैं कि जीवन की अनेक कष्टकारक परिस्थितियों में द्वेष के कारण हमें सबसे अधिक त्रास मिलता है। अन्य बुरी परिस्थितियाँ थोड़ी देर ठहरती हैं और अपना कुप्रभाव दिखाकर विदा हो जाती हैं पर **द्वेष का दु:ख देर तक बना रहता है और कई बार तो मन में ऐसी जड़ जमाकर बैठ जाता है कि निरंतर काँटे की तरह खटकता रहता है।** बैर में एक बुराई है कि उसके कारण प्रतिशोध एवं प्रतिहिंसा की भावना पैदा होती है। जिससे अपना द्वेष है उसे कोई न कोई हानि पहुँचाने को जी चाहता है और जी की जलन तब तक शांत नहीं होती जब तक बदला नहीं ले लिया जाता । बदला लेना एक नया कुचक्र शुरू करता है। जिसे त्रास दिया गया है उसके मन में ठीक वैसी ही प्रतिहिंसा उत्पन्न होती है जैसी बदला लेने से पूर्व अपने मन में थी। उसके मन में प्रतिशोध का रोष उमड़ता है और अपने ऊपर चोट करता है। अब यह पहिया घूमने लगता है, क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। दोनों पक्ष एक दूसरे से अपना बदला चुकाने लगते हैं। इस चपेट में दूसरे अनेक निर्दोष लोग भी आते हैं। कभी-कभी इसका संगठित रूप पार्टीबंदी के रूप में उठ खड़ा होता है। हत्या, कत्ल, डकैती, फौजदारी, छुरेबाजी, लूट, अपहरण, चोरी आदि की जितनी

घटनाएँ धन के लालच से होती हैं उससे कई गुनी द्वेषजनित शत्रुता के कारण होती हैं।

चिंता, भय, निराशा, शोक, अपमान आदि अनेक कारणों से मनुष्य का मन दुःखी रहता है पर उन सब को मिलाकर भी उतना दुःख मन को नहीं होता जितना द्वेष के कारण होता है। सर्प जैसा तुच्छ कीड़ा क्रोध के वशीभूत होकर इतना उग्र बन जाता है कि छेड़ने वाले की जान लिए बिना संतुष्ट नहीं होता। कई बार तो वह अपने छेड़ने वाले को वर्षों तक याद रखता है और जब भी उसे अवसर मिलता है तभी अपने बैर का प्रतिशोध लेकर जी की जलन मिटाता है। मनुष्य तो अधिक संवेदनशील है। क्रोध उसे पागल ही बना देता है। चाणक्य जैसा विद्वान, जरा से अपमान से क्रुद्ध होकर इतना असंतुलित हो गया कि उसने नंद वंश का सर्वनाश करके ही चैन लिया। द्रौपदी के जरा से व्यंग्य से क्षुब्ध होकर दुर्योधन इतना क्रूर बन गया कि उसने पांडवों से बदला लेने के लिए महाभारत जैसी विभीषिका को स्वीकार कर लिया। चंबल घाटी के दुर्दांत दस्युओं की समस्या पर विचार कीजिए जिसने लाखों मनुष्यों का नागरिक जीवन अस्त–व्यस्त किया है। वह समस्या डाकुओं के प्रारंभिक जीवन में किसी साधारण बात से उत्पन्न द्वेष और प्रतिशोध से आरंभ हुई और अब तक समाज को भारी क्षति पहुँचा रही है।

द्वेष की भयंकरता :

इतिहास पर दृष्टि डालते हैं तो भी भयंकर संघर्षों और आक्रमणों के बीच द्वेष को ही प्रधान कारण पाते हैं। अन्य सभी कारण गौण थे। शांत भाव से जंगलों में जीवन यापन करने वाले पशु जिनके बीच कोई समस्या नहीं है, कभी–कभी क्रोध और द्वेष के वशीभूत होकर ऐसे असंतुलित होकर लड़ पड़ते हैं कि एक दूसरे की जान लेकर ही पीछे हटते हैं।

शरीर और मन की अन्य व्यथाएँ कम समय तक कष्ट देती हैं । बुखार, खाँसी, दस्त, दर्द आदि रोग सदा नहीं रहते । दस–पाँच दिन में वे अपने आप अच्छे हो जाते हैं । न

अच्छे हों तो कोई अच्छा चिकित्सक तेज उपचार करने खड़ा हो जाए तो वह कष्ट तुरंत या एकाध दिन में ही मिट सकता है । चिंताएँ जिस कारण रहती हैं वह कारण दूर होते ही चिंता भी दूर हो जाती है । उसी प्रकार अन्य मनोव्यथाएँ भी समय–समय पर घटती–मिटती रहती हैं, पर द्वेष का रूप ही कुछ विलक्षण है । वह घृणा, ईर्ष्या, शत्रुता, मनोमालिन्य, प्रतिहिंसा आदि अनेक रूप धारण करके मन में छिपा बैठा रहता है । यही एक योजना वह बनाता रहता है । प्रतिपक्षी को कैसे हानि पहुँचे ? यह योजना यदि बन भी जाए और कार्य रूप में परिणत भी हो जाए तो इतनी मँहगी पड़ती है कि उसकी अपनी बहुमूल्य शक्तियाँ इस निरर्थक काम में बिल्कुल ही व्यर्थ बरबाद होती हैं । उसका कुछ भी लाभ अपने को नहीं मिलता वरन् प्रतिक्रिया का शिकार होने पर कभी भारी क्षति उठाने की आशंका और खड़ी हो जाती है ।

द्वेष आत्मघाती :

आग जहाँ रखी जाती है पहले उसी को जलाती है । दूसरी दूर की वस्तु को वह पीछे जलाएगी । पहले तो उसी चीज को ही समाप्त करेगी जिसमें उसे रखा जाएगा । तेजाब जहाँ कहीं गिर पड़ता है, उसी वस्तु को गला देता है । आग और तेजाब की तरह द्वेष की अग्नि जिसके मन में रहती है, **उसका मनःसंस्थान सूझ–बूझ से रहित, असंतुलित और अस्त–व्यस्त बनकर मूर्ख, पागल एवं विक्षिप्त जैसी स्थिति उत्पन्न कर देता है ।** जरा–जरा सी बात पर लड़ाई, झगड़ा, रूठना, कटुवचन, दुर्व्यवहार, असहयोग, अवज्ञा, उपेक्षा, उपहास, अपमान आदि की चुभने वाली बातें कई बार स्वजन संबंधियों में, परिवार के लोगों में परस्पर चलने लगती हैं, वहाँ साथ–साथ रह सकना कठिन हो जाता है । इन बुरी बातों से बने बनाए परिवार नष्ट हो जाते हैं । स्नेह संबंध समाप्त होकर, पराएपन के भाव उत्पन्न होते हैं और अंततः भावनात्मक संबंध का ही विच्छेद हो जाता है, ऊपर से मात्र दिखावे के लिए शिष्टाचार संबंध भले ही बना

रहे । द्वेष के कारण जो क्रोध और प्रतिहिंसा का भाव उत्पन्न होता है, उससे प्रतिपक्षी को जितनी हानि पहुँचती है, उससे अनेकों गुनी हानि अपनी होती है । मनोविज्ञान शास्त्र के ज्ञाता जानते हैं कि द्वेष के दुर्भाव के कारण मनोभूमि में ऐसी ग्रंथियाँ बन जाती हैं जो आगे चलकर अनेक कष्टसाध्य एवं असाध्य रोगों को जन्म देती हैं । उन रोगों की जड़ें इतनी गहरी होती हैं कि दवा–दारू का भी कोई असर उन पर नहीं पड़ता । स्वभाव और गुणों का स्तर गिरता है, जिससे व्यक्ति निम्न श्रेणी के निकृष्ट कोटि के विचार का कार्य करने पर उतारू होता है । जिसका मन द्वेष दुर्भावनाओं से भरा रहता है, उससे ऐसे किसी श्रेष्ठकार्य की आशा नहीं की जा सकती, जो उसकी कीर्ति को बढ़ाए, दूसरों को सुविधा उत्पन्न करे अथवा समाज की प्रगति में योग दे ।

गलतफहमी के फलस्वरूप द्वेष :

वैयक्तिक जीवन में घोर अशांति और समाज में भयंकर विक्षोभ उत्पन्न करने वाले इस दुष्ट द्वेष की जड़ खोजने पर ज्ञात होता है कि द्वेष का उद्‍गम गलतफहमी से होता है । ऐसी घटनाएँ कम ही होती हैं, जब किसी ने लोभवश किसी को सताया हो और उसके कारण द्वेष उत्पन्न हुआ हो । द्वेष का प्रधान कारण गलतफहमी होता है । आमतौर से हम उन सबको अपना शत्रु या विरोधी मान लेते हैं जो हमारे विचारों से सहमत नहीं होते, हमारी पसंदगी की गतिविधियाँ नहीं अपनाते । हर आदमी यह सोचता है कि बाकी सब लोग मेरी इच्छानुसार सोचें और करें । यह आकांक्षा बहुत ही गलत अहंकारपूर्ण और नासमझी से भरी हुई है । अपनी समझ से हमारा सोचना और करना हमारे लिए ठीक हो सकता है, पर यह जरूरी नहीं कि बाकी सब लोग भी उसी को ठीक समझें जिसे हम पसंद करते हैं । रुचि भिन्नता और विचार साम्य इस संसार की शोभा और विचित्रता है । यदि नैतिक आदर्शों पर हम सब सहमत हों, तो फिर बाहरी साधारण रुचि भिन्नताएँ हमारे प्रेम भाव में बाधक

न होनी चाहिए । हर आदमी की अपनी मनोभूमि, रुचि, भावना और परिस्थिति होती है । वह उसी आधार पर सोचता, चाहता और करता है । हमें इतनी उदारता रखनी ही चाहिए कि यदि हम दूसरों की भावनाओं का आदर न कर सकें तो कम-से-कम उसे सहन तो कर ही लें । असहिष्णुता मनुष्य का एक नैतिक दुर्गुण है, जिसमें अहंकार की गंध आती है. इतना दुस्साहस तो परमात्मा भी नहीं करता। उसने शास्त्रों के द्वारा अपनी रुचि और इच्छा प्रकट कर दी है कि इस प्रकार का आचरण हमें करना चाहिए। इतने पर भी जो उसकी आज्ञा की अवहेलना करते हैं उन्हें वह सहन करता है, तत्काल ही उन पर आग बबूला नहीं हो जाता, वरन् सौम्य और शांत विधि व्यवस्था से इन अवज्ञाकारियों के सुधार का कार्य धैर्यपूर्वक करता रहता है । हम ईश्वर से भी बड़े बनें और हर किसी को अपनी मर्जी का बनाना और चलाना चाहें, तो यह मूर्खता भरी बात ही होगी ।

सहिष्णुता और सह-अस्तित्व को मान्यता दें :

यह हो सकता है कि कोई पूर्ण ईमानदार होते हुए भी अपनी समझ के अनुसार हमारे विचारों से भिन्नता रखे । भारत में अनेक देवी-देवता, संप्रदाय, मत-मतांतर, धर्म-ग्रंथ, पूजा-विधान एवं रीति-रिवाज प्रचलित हैं । इनमें परस्पर कोई समानता नहीं वरन् कई बार तो प्रतिकूलता दीखती है । इतने पर भी यहाँ सदा से विचार स्वातंत्र्य को पसंद किया गया है । इस भिन्नता से सत्य की शोध में सहायता ही मिलती है । **उपयोगिता और वास्तविकता की कसौटी पर जो खरा उतरेगा, वही विचार अंततः जीवित रहेगा, शेष को समीक्षा एवं विवेक की कसौटी खोटा सिद्ध करके फेंक देगी ।** इसके लिए धैर्य रखना और प्रतीक्षा करना ही उचित है । पिछले दिनों जोर-जबरदस्ती के बल पर मतों को फैलाने का प्रयत्न किया जा चुका है । यह प्रयत्न सफल तो नहीं हुआ, अपने पीछे एक घृणा, कटुता और दुःख भरी गाथा ही छोड़ गया है । अब भी कुछ लोग

उसी की पुनरावृत्ति करते हैं । तलवार से न सही, गाली–गलौज अथवा अन्य तरीकों से दूसरों को अपना अनुयायी बनाना चाहते हैं । यह असहिष्णुता उचित नहीं । हमें सह–अस्तित्व को मान्यता देनी चाहिए । अपने पक्ष का उचित रीति से समर्थन और प्रचार करें और दूसरों को दबाने या विवश करने की बात न सोचें । विचार परिवर्तन और हृदय परिवर्तन सद्भावना के वातावरण में होना चाहिए । सामाजिक ही नहीं, घरेलू जीवन में भी हमारी रीति–नीति यही रहे ।

हम किसी के सामने कोई प्रस्ताव रखते हैं या कुछ पाने की आशा करते हैं । अपनी समझ या परिस्थिति के अनुसार वह उसे स्वीकार नहीं करता तो यह मान बैठना गलती है कि वह हमारा दुश्मन ही हो गया । भूलवश अनजान में भी कोई व्यक्ति ऐसी बात कह सकता है या ऐसा काम कर सकता है, जो हमें शत्रुतापूर्ण मालूम पड़े, किंतु उसकी दृष्टि से उसका इरादा जरा भी बुरा नहीं । जिस प्रकार हम अपनी सुविधा सोचते हैं, उसी प्रकार दूसरे व्यक्ति भी अपनी सुविधा की दृष्टि से हमारे प्रस्ताव की उपेक्षा कर सकते हैं । इस उपेक्षा को हम शत्रुता क्यों मानें ? हमारी हर इच्छा दूसरों को पूरी कर ही देनी चाहिए । यह मान्यता बना लेना एक ऐसी गलती है जिसके फलस्वरूप पग–पग पर शत्रुता ही बढ़ती चली जाती है और धीरे–धीरे अपने सब मित्र साथ छोड़ते तथा शत्रु बनते दिखाई देने लगते हैं ।

क्या किया जाए ?

दैनिक जीवन में अपने से भिन्न विचारों को भी सहन करने की आदत डालिए । **दूसरों के और आपके विचार अथवा स्वार्थ जहाँ टकराते हों वहाँ टकराने की अपेक्षा समझौते की नीति ही उपयुक्त है ।** सब कुछ या कुछ नहीं ऐसा सोचना उचित नहीं है । जितना मिले उतना स्वीकार करिए और शेष के लिए प्रयत्नशील बने रहिए । जिस सीमा तक आप अन्य व्यक्तियों से मतैक्य कर सकें, करें और मतैक्य के आधार सुनिश्चित करने

के पश्चात् उन पर जोर दें । उनकी ही चर्चा करें । इससे सद्भाव में वृद्धि होगी और मतभेदों में कमी आएगी । जहाँ तक हो मतभेदों की चर्चा न करें अथवा यह चर्चा तभी करें जब आप दोनों की मनोभूमि उसे सुनने, समझने और सुधारने की स्थिति में हों । समय–कुसमय मतभेदों की ही चर्चा करते रहने से द्वेष–दुर्भाव में अभिवृद्धि होती है ।

इस ओर सावधानी बरतें कि आपसे असहमत व्यक्तियों को बदनीयत न मान बैठें, उसके हर क्रिया–कलाप में द्वेष–दुर्भाव की गंध न सूँघें । इस प्रकार के पूर्वाग्रहपूर्ण व्यवहार से सप्रयास बचते रहें । सद्भावना से भी कोई व्यक्ति आपसे असहमत हो सकता है । यदि किसी का उत्तर आपकी अपेक्षाओं के अनुरूप न हो, तो इतने मात्र से आप उससे अप्रसन्न न हों । इस प्रकार गलतफहमियों से दूरियाँ बढ़ती ही चली जाएँगी । अतः इससे पहले कि खाई अलंघ्य हो, आप उससे एकांत में जी खोलकर बात कर लें । गलतफहमी दूर करने का इससे बेहतर और कोई उपाय नहीं है । समाज के पिचहत्तर प्रतिशत झगड़े गलतफहमी के कारण होते हैं । गलतफहमी जितनी शीघ्र दूर की जा सके, उतना ही अच्छा है । अपने प्रतिपक्षी को महत्त्वहीन अथवा नगन्य कभी न समझें । अरे, वह भला मेरा क्या बिगाड़ लेगा ? ऐसा कभी मत सोचिए । आयु, पद, प्रतिष्ठा में आपसे वह कितना भी छोटा क्यों न हो, आपकी मानसिक शांति तो भंग कर ही देगा और समझ लीजिए कि शांति की क्षति सबसे बड़ी क्षति होती है । **द्वेष को पलने मत दीजिए । द्वेष ऐसा विषाणु है जो जब तक समूल नष्ट नहीं होगा, तब तक आपके मुखमंडल की सौम्यता, वाणी के माधुर्य, व्यवहार की शालीनता एवं कार्य–शैली को सहज नहीं होने देगा । अतः द्वेषी नहीं प्रेमी बनने का प्रयास करें ।** आधार दुर्भावना नहीं, स्नेह–सद्भाव हो । इसी में हमारा कल्याण है ।

यूनिट-१६

हँसिए और जीवन को मधुमय बनाइए

प्रसन्नता सबसे बड़ी औषधि :

जीवन की सफलता के मार्ग में द्वेष यदि विष है तो प्रसन्नता अमृत। प्रसिद्ध चिकित्सा शास्त्री डॉ. सेंपसन के पास एक मरीज लाया गया। उसकी स्थिति काफी गंभीर थी, घर वालों को उसके बचने की कोई उम्मीद नहीं थी। डॉक्टर कोई चिकित्सा करने से पूर्व रोगी के साथ बातचीत करने लग गया। उसने बड़ी दिलचस्पी और मुस्कराहट के साथ रोगी से उसकी स्थिति के बारे में पूछा। डॉक्टर के हास्य, मुस्कराहट भरे व्यवहार से रोगी के चेहरे पर भी मुस्कराहट की रेखाएँ उभर आईं। डॉक्टर सेंपसन ने उपस्थित लोगों से कहा– चिंता की कोई बात नहीं है, रोगी ठीक हो जाएगा, क्योंकि अभी इसमें हँसने की क्षमता शेष है। कुछ समय की चिकित्सा के उपरांत ही वह रोगी भला चंगा हो गया। डॉक्टर सेंपसन रोगी की दवा–दारू एवं चिकित्सा आदि से भी अधिक उसके मनोरंजन, हँसी–खुशी, मुस्कराहटपूर्ण व्यवहार को महत्त्वपूर्ण समझते थे और उनका यह उपाय दवाओं से भी अधिक कारगर सिद्ध होता था।

दार्शनिक बायरन ने लिखा है–जब भी संभव हो सदा हँसो, यह सस्ती दवा है। हँसना मानव जीवन का उज्ज्वल पहलू है। केरीबोर ने लिखा है–हँसी यौवन का आनंद है। हँसी यौवन का सौंदर्य और शृंगार है। जो व्यक्ति इस सौंदर्य और शृंगार को धारण नहीं करता, उसका यौवन भी नहीं ठहरता। स्टर्न ने कहा है, मुझे विश्वास है कि हर बार जब कोई व्यक्ति हँसता है, मुस्कराता है तो वह उसके साथ–साथ ही

अपने जीवन में वृद्धि करता है। डॉक्टर विलियम ने अपने प्रयोगों के आधार पर सिद्ध किया कि ठहा मार कर हँसने से, सदैव प्रसन्न रहने से मनुष्य का पाचन संस्थान तीव्र होता है, रक्ताणु वृद्धि प्राप्त करते हैं, स्नायु संस्थान ताजा होता है और स्वास्थ्य बढ़ता है।

खिलखिलाकर हँसना और हास्य–विनोद मनुष्य के स्वास्थ्य को ठीक बनाने की अचूक दवा है। शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य के लिए हँसना एक महत्वपूर्ण साधन है। हँसना जीवन का सौरभ है। अपने आप से कोई कलिका जब खिलखिला उठती है तो उसका सौंदर्य देखते ही बनता है। मनहूसों का दिल भी उसकी ओर आकर्षित हो उठता है। जीवन की विभीषिकाओं से दग्ध मनुष्य के लिए भी वे कुछ क्षण नवजीवन के प्रेरणा केंद्र बन जाते हैं। बालसुलभ मुस्कराहट व हँसी–विनोद के संपर्क में आकर निराश, नीरस व्यक्तियों में भी जीवन की स्फुरणा जाग पड़ती है। साथियों के हास्य विनोदमय कहकहों के बीच उस समय मनुष्य अपने दुःख एवं अवसाद की अनुभूतियों को भी विस्मृत कर देता है।

खिलखिलाकर हँसने पर मनुष्य के स्नायविक विस्मृत मानसिक संस्थानों का तनाव आश्चर्यजनक ढंग से दूर हो जाता है। हँसने से नसें व माँस पेशियाँ प्रभावित होती हैं, अपना पाचक रस पर्याप्त रूप से छोड़ती हैं और सक्रिय बन जाती हैं। फेफड़ों में रक्त की गति तेजी से बढ़ जाती है, श्वाँस–प्रश्वाँस की गति भी बढ़ जाती है जिससे शरीर द्वारा आक्सीजन अधिक मात्रा में ग्रहण की जाती है। रक्त की शुद्धि भी तेजी से होने लग जाती है। शरीर में जीवन–तत्त्व सक्रिय होकर स्वास्थ्य को पुष्ट बनाते हैं।

जीवन में आने वाली कठिनाइयों, परेशानियों और समस्या के भार से होने वाले क्लांति, खिन्नता एवं मानसिक असंतुलन

हास्य–विनोद के संपर्क में आते ही तिरोहित हो जाते हैं। हास्यप्रधान व्यक्ति जीवन की बड़ी से बड़ी कठिनाई और समस्याओं का सामना भली प्रकार कर सकता है और जीवन संग्राम में हँसी के साथ ही विजय भी प्राप्त कर सकता है।

कठिनाइओं से रहित मनोवांछित परिस्थितियों और प्रियजनों से घिरा जीवन आज तक किसी का भी नहीं हुआ है। भविष्य में कोई सर्वांगीण सुविधासंपन्न मनुष्य इस संसार में जन्म ले सकेगा, ऐसी आशा नहीं की जा सकती है। भगवान के अवतार कहे जाने वाले राम, कृष्ण तक की जो दुर्दशा हुई, वह सामान्य मनुष्य से अच्छी नहीं रही। दूसरे अवतार, ऋषि, महापुरुष, ज्ञानी–विज्ञानी भी कठिनाइयों से घिरे और विपत्तियाँ सहन करते रहे हैं. महापुरुषों की महानता इसी आधार पर परखी जाती है कि उनने आदर्श और सुविधा में किसे चुना और अपनी चरित्रनिष्ठा को कितनी कठिनाइयों पर कसे जाने के लिए कितनी प्रसन्नतापूर्वक प्रस्तुत किया।

विपत्ति को टालने अथवा हलका करने का सबसे सस्ता और सबसे हलका नुस्खा यह है कि कठिनाई को हलकी माना जाए। सही एवं भरपूर प्रयत्न करना ऐसी ही मनःस्थिति में संभव हो सकता है। लड़खड़ाता हुआ चिंतन तो और भी अधिक गहरे दलदल में फँसा देता है। उज्ज्वल भविष्य की आशा छोड़ दी जाए, तो फिर चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई देगा और हलकी सी कठिनाई को पार करना भी पहाड़ उठाने जैसा भारी मालूम पड़ेगा।

सुखद प्रसंगों का बार-बार स्मरण करें :

हलकी–फुलकी, हर्षोल्लास, संतोष एवं आनंद से जिंदगी जीने की योजना बनानी चाहिए और इस मार्ग में जो अवरोध हों, उन्हें चुन–चुन कर मार्ग से हटाना चाहिए। विचार करने पर जो व्यक्ति अपने को अभावग्रस्त, कठिनाइयों से घिरा हुआ, विरोधी

दुर्जनों के बीच रहता हुआ, भविष्य में विपत्ति की संभावनाओं से जकड़ा अनुभव करेंगे तो उसका जी सदा खिन्न, उद्विग्न रहेगा। चिंतन की इस निषेधात्मक धारा को विवेकपूर्ण पर्यवेक्षण से बहुत कुछ हलका किया जा सकता है। भविष्य में क्या होना है ? किसी को पता नहीं, यदि यह सही बात है तो विपत्ति की आशंका करने की अपेक्षा उज्ज्वल भविष्य की कल्पना क्यों न की जाए और निराशा के स्थान पर आशा को क्यों न अपनाया जाए ? साथियों के दोष ही दोष क्यों देखें जाएँ ? उनमें जो गुण हैं, उन्हें क्यों न समझें ? उनके द्वारा जो क्षति हुई है, उसी पर क्यों विचार करते रहें ? जो सहयोग, सद्भाव वे देते रहे हैं, उन सुखद प्रसंगों का स्मरण क्यों न किया जाए ? स्वजनों के दोष–दुर्गुणों को देखना, सुधारना उचित है, पर वह कार्य डॉक्टर और रोगी की, वयस्क और बालक की भावना के साथ उदारतापूर्वक और बिना खीजे भी किया जा सकता है।

अप्रिय प्रसंग हर किसी के जीवन में कभी न कभी घटित हुए ही होते हैं। यदि उन्हें ढूँढ़ कर एकत्रित किया जाए और उन्हीं को स्मरण करते रहा जाए तो लगेगा कि सारी जिंदगी दु:ख–कष्ट सहते–सहते असफल बीत गई। इसके विपरीत यदि सुखद प्रसंगों को ढूँढ़ा जाए तो वे भी इतने अधिक दिखाई पड़ेंगे, जिनके आधार पर सुखी जीवन जी लेने पर गर्व किया जा सके। एक स्मृति दु:खी बनाती है और दूसरी के कारण होंठों पर मुस्कान दौड़ने लगती है। दोनों में जिसका भी चुनाव करना हो प्रसन्नतापूर्वक किया जा सकता है। हँसी–खुशी का हलका–फुलका जीवन शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक एवं आर्थिक सभी पक्षों को प्रभावित करता है और सुखद संभावनाएँ विनिर्मित करने में भारी योगदान देता है। वह कठिन नहीं अति सरल है। चिंतन में थोड़ा हेर–फेर करके हम खिन्न, उद्विग्न जीवन को हँसता–हँसाता बनाने में अभीष्ट सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

खिलाड़ी की तरह जिएँ :

हलकी–फुलकी जिंदगी जीने वाले ही शांति से रहते और चैन संतोष से दिन काटते हैं। जीवन को एक खेल जैसा माना जाना चाहिए और उसे हार–जीत की परवाह किए बिना, विनोद–मनोरंजन के लिए उसमें प्रवीणता पाने के लिए खेला जाना चाहिए। नाटक के अभिनेता जैसा दृष्टिकोण भी सही है. कभी राजा, कभी रंक बनने में पात्र को न कोई संकोच लगता है और न असमंजस होता है. अपनी निजी हैसियत और प्रदर्शन की खोखली वास्तविकता को समझता है. इसलिए सिंहासन हार जाने और मुकुट उतर जाने पर भी चेहरे पर मलीनता नहीं आने देता. रात को चादर तानकर गहरी नींद सोता है। वैसी ही मनःस्थिति अपनी भी होनी चाहिए। दिन में क्या किया ? कितना सोचा था, कितना पूरा हो सका, कल के लिए क्या जीवन–क्रम निर्धारित किया है, इतना पर्यवेक्षण तो सोने से पूर्व अवश्य कर लिया जाए, परंतु विगत की घटनाओं, दिन में किसी के द्वारा अपने साथ किए गए दुर्व्यवहार के चिंतन, बदला आदि लेने के विचार सोते समय मन में कतई न आने दिए जाएँ। मन हलका रहे। कोई घटना घटी भी है, इसकी छाया मात्र भी मस्तिष्क पटल पर आने न दी जाए, यही सच्ची जीवन–यापन शैली है। तनाव रहित मन तुरंत निद्रा देवी का आह्वान करता है। ऐसी हलकी–फुलकी जिंदगी ही निरोग काया की जन्मदात्री बनती है। मन को साधकर अनुकूल दिशा में मोड़ लेना ही सच्चे अर्थों में जिंदगी जीना है।

धन प्रसन्नता का कारण नहीं :

प्रसन्नता धन के कारण नहीं मिलती है। यदि ऐसा होता तो धनवान ही प्रसन्न रहते, पर स्थिति इसके विपरीत है। धनी व्यक्ति का जीवन जितना चिंतापूर्ण रहता है उतना निर्धन का नहीं। निर्धन का दृष्टिकोण यदि थोड़ा भी परिवर्तित हो जाए तो

वह किसी धनी से भी अधिक प्रसन्न रह सकता है। अपने से बड़ों को देखकर उन जैसे वैभव की अभिलाषा जगाना भी अनुपयुक्त है। इस संसार में एक से बढ़कर एक बड़े लोग पड़े हैं। किस-किस से तुलना की जाए और किस-किस की समता का मनोरथ किया जाए ? तुलना ही करनी हो तो अपनों से छोटों के साथ करनी चाहिए और अनुभव करना चाहिए कि अपने को अपेक्षाकृत कितना अधिक सौभाग्य मिला हुआ है। अपंगों, दरिद्रों, अशिक्षितों, रोगियों, असहायों की तुलना में जब अपनी स्थिति कहीं अधिक अच्छी है तो उस पर संतोष व्यक्त करने में क्या हर्ज है ? ऐसे भी असंख्य हो सकते हैं जो उसके लिए भी तरसते हों जो अपने हिस्से में आया है। जिसे दोनों समय भोजन मिल जाता है, अपने पैरों खड़े रहने का अवसर है, उसे संतोष की साँस लेनी चाहिए और भगवान को हजार बार धन्यवाद देना चाहिए, कृतज्ञता व्यक्त करनी चाहिए।

औसत भारतीय स्तर का निर्वाह जिन्हें पर्याप्त लगता है, वे ईश्वर चंद्र विद्यासागर की तरह न्यूनतम निर्वाह में काम चलाते और अपनी कमाई का अधिकांश भाग परमार्थ में लगाते रहते हैं। ऐसों को यह पश्चाताप करते नहीं देखा गया कि हम गरीबी में दिन गुजारते हैं । **गरीबी ब्राह्मण की शान है । गाँधी जी प्राचीनकाल के संतों की तरह अपरिग्रही जीवन जीते थे । जनक हल चलाकर पेट भरते थे । इससे उनकी गरिमा घटी नहीं । भर्त्सना के भाजन तो लालची होते हैं । जो पेट भरा रहने पर भी अधिक की रट लगाए रहते हैं और उसे बटोरने के लिए अनीति अपनाने का बड़े से बड़ा कुकर्म करने तक से नहीं चूकते ।**

प्रसन्नता एक मानसिक टॉनिक :

प्रसन्नता का स्वभाव बना लेना उत्साह, संतुलन और साहस का अभ्यास बढ़ा लेने जैसा है । यह एक मानसिक

टॉनिक है, जिससे निरंतर नई शक्ति उभरती रहती है । ऐसे स्वभाव वाले सदा अधिक मात्रा में अधिक अच्छे स्तर का काम करने और सफलताएँ अर्जित करने में अग्रणी रहते हैं । **हँसता व्यक्ति दूसरे को हँसाते रहने में समर्थ होता है । सुगंधित वस्तुओं की समीपवर्ती वस्तुएँ भी सुगंधित हो जाती हैं ।** आग की गर्मी अपने आस–पास के पदार्थों को भी गरम कर देती है । ठीक उसी प्रकार निराशा, खीझ, उदासीनता जहाँ दूसरों को दूर रहने को धकेलती है, वहीं प्रसन्नता की अभिव्यक्ति करने वाले छोटे से छोटे कार्य भी दूसरों पर अपना उत्साहवर्धक प्रभाव छोड़ते हैं । प्रसन्न किए गए व्यक्ति का संचित मनोमालिन्य नष्ट हो जाता है । कभी कोई बुरी मान्यता बन गई हो तो वह भी बात की बात में समाप्त हो जाती है । सुरभित वातावरण बनाने का सही और सीधा तरीका यह है कि प्रसन्नता, संतोष उत्साह, उल्लास की मनःस्थिति बनाए रहने का परिपूर्ण प्रयत्न किया जाए । इस प्रसाद को उन सब में भी बाँटा जाए, जो अच्छे हों, उनकी चर्चा करके अगले दिनों और भी प्रगतिशील कदम उठाने के लिए प्रोत्साहित किया जाए । भविष्य के आशाजनक होने की संभावना व्यक्त करते हुए नई आशा और उमंग जगाने का प्रयत्न किया जाए । हँसते रहने की आदत अपने आप को अधिक सुंदर, आकर्षक एवं समर्थ सिद्ध करने का अच्छा उपाय है । इसे अपनाने वाले अधिक कार्यरत रहने, आगे बढ़ने, ऊँचे उठने का अवसर प्राप्त करते हैं । दूसरों को भी वे अपने साथ आगे घसीट ले जाते हैं । उसके विपरीत निराश रहने वाले, बूढ़ों जैसी उदासी लादे रहने वाले सदैव अनाकर्षक, उपेक्षित और असफल प्रतीत होते रहते हैं । शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को अक्षुण्ण बनाए रहने के लिए मुस्कराते रहने की आदत एक अच्छे खासे टॉनिक का काम देती है । ऐसे बिना कुछ खर्च किए मिलने वाली रसायन का लाभ हर किसी को उठाना चाहिए ।

जीवन जीने की कला भाग–२/६३

क्या किया जाए ?

सफलता–असफलता सबके जीवन में आती है । उस स्थिति में आप जीवन को खेल के रूप में मानिए । हार–जीत को खेल–भावना से स्वीकार करते हुए हर स्थिति में प्रसन्न रहने का प्रयास करिए । है तो यह कठिन कार्य पर असफलता पर मुँह लटका कर बैठने के स्थान पर चिंतन करिए कि असफलता क्यों मिली ? आपके संकल्प, नियोजन एवं पुरुषार्थ में किस स्तर पर कमी रही ? खिले फूल की तरह प्रफुल्लित रहेंगे तो आपके मित्र, संतान, पत्नी सभी आपके पास बैठना चाहेंगे । मुरझाए रहेंगे तो कोई अकारण आपके पास फटके का भी नहीं । आपका चिड़चिड़ा स्वभाव अपनों को भी पराया बना देगा । अत: जीवन की निराशाजनक घटनाओं के बजाय ऐसे प्रसंगों को बार–बार याद करें और सुनाएँ, जिनसे उल्लास मिले । आप कितने भी व्यस्त हों, अपनी जीवन–सहचरी के साथ, अपने बच्चों, नाती, पोतों के साथ हँसना, खिलखिलाना न भूलें ।

जो आदर्श के मार्ग पर चलने का कष्टकर जीवन स्वेच्छा से वरण करते हैं, वे न केवल स्वयं ऊँचे उठते हैं, वरन् मनुष्यता का स्तर ऊँचा उठाते हैं ।

जीवन जीने की कला

भाग-3

हम अपने आपको प्यार करें, ताकि ईश्वर से प्यार कर सकने योग्य बन सकें । हम अपने कर्त्तव्यों का पालन करें, ताकि ईश्वर के निकट बैठ सकने की पात्रता प्राप्त कर सकें । जिसने अपने अंतःकरण को प्यार से ओतप्रोत कर लिया, जिसके चिंतन और कतृत्व में प्यार बिखरा पड़ता है, ईश्वर का प्यार उसी को मिलता है ।

-पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

शक्ति का भंडार हमारा मन

एकाग्रता की साधना करें :

हलका–फुलका प्रसन्नतापूर्ण जीवन जीने वाले व्यक्ति चैन से जीवनयापन कर पाते हैं । प्रसन्नता से संतुलन, शांति, साहसिकता और उमंग का जन्म होता है । प्रसन्न व्यक्ति का शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहता है । मानव मन असीमित शक्ति का भंडार होता है । हमारा मन एक उपजाऊ खेत है, जिससे जो वस्तु चाहें सीधे रास्ते से पैदा कर सकते हैं । जो इसका उचित उपयोग करेगा, वह लाभ पाएगा । जैसा बोएगा वैसा काटेगा किंतु मन की यह विशेषता प्राकृतिक नहीं है । इसे तैयार करना पड़ता है । जिस प्रकार उर्वरता का गुण होने पर भी हर भूमि में खेती नहीं होती, उसे खेत का रूप देने के लिए उपाय करने पड़ते हैं । उसी प्रकार मनोभूमि भी तैयार करनी पड़ती है । तभी वह मनोवांछित फल प्रदान करता रहता है । मन का निर्माण है–उसका परिमार्जन और उसकी उर्वरता है–एकाग्रता । मन को एकाग्र स्थिति में लाए बिना उसकी शक्तियों का लाभ नहीं उठाया जा सकता । जीवन में किसी भी सफलता का समावेश करने के लिए मानसिक शक्तियों का अपरिहार्य महत्त्व है । प्राप्तियों, उपलब्धियों और सफलताओं का आधार है–मनुष्य की क्रियाशीलता और इस क्रियाशीलता का सारा संचालन मन द्वारा ही होता है । जितना अधिक मानसिक शक्तियों का सहयोग मिलता जाएगा क्रियाशीलता उतनी ही तीव्र, प्रखर होती जाएगी । मन की शक्ति एकाग्रता में सन्निहित है । जीवन विकास के लिए एकाग्रता की साधना करते ही रहना चाहिए । मनुष्य का एकाग्र मन उसकी उन्नति का एक मात्र आधार माना गया है । जो मनुष्य अपने मन को एकाग्र कर लेता है, वह किसी भी कार्य में उसकी सारी शक्तियों का एक

साथ प्रयोग कर सकता है । जिस प्रकार एक आतिशी शीशा सूर्य की किरणों को एकाग्र कर किसी को भी जला देने की शक्ति संपादित कर लेता है उसी प्रकार एकाग्र मन अपनी एकत्र शक्तियों द्वारा कोई भी प्रयोजन सिद्ध कर सकता है ।

आज तक संसार में जितने व्यक्ति भी उन्नति के शिखर पर चढ़ने में सफल हो चुके हैं, उनमें से कोई भी ऐसा नहीं है, जो सहसा ही उस स्थिति में पहुँच गया हो । उन्नति कोई आकस्मिक घटना नहीं है, वह क्रमिक विकास और प्रगति की अविरल प्रक्रिया का परिणाम है । जिसको एकाग्रतापूर्वक ही पूरा किया जा सकता है । चंचल मन और बिखरी वृत्तियों द्वारा उसका पूरा कर सकना संभव नहीं । मानसिक चंचलता मनुष्य की सारी क्षमताएँ बिखेर कर उन्हें निर्बल एवं निरर्थक बना देती है ।

मन को किसी एक निश्चित लक्ष्य पर केंद्रित करना ही उसकी एकाग्रता है । सूर्य की किरणों में बड़ी भयानक आग होती है किंतु सारे संसार पर फैली होकर वे किसी भी चीज को गरम तो कर देती हैं, पर जला नहीं पातीं । इसका कारण यही है कि वे सूर्य की अग्नि का थोड़ा–थोड़ा अंश लेकर अलग–अलग छितरी रहती है, किंतु जब वे किसी उपाय द्वारा एकत्र करके प्रयोग की जाती हैं तो तुरंत ही भयानक अग्नि का रूप धारण कर लेती हैं । वैज्ञानिकों का कथन है कि यदि किसी उपाय से सूर्य की बिखरी किरणों को किसी साधन द्वारा एक स्थान पर एकत्र कर उनको किसी दिशा में संधान कर दिया जाए तो वे उस दिशा की सारी वस्तुओं को खाक बना सकती हैं । किन्हीं शक्तियों का एकत्रीकरण ही उनकी एकाग्रता है जिससे कोई भी प्रयोजन सिद्ध किया जा सकता है ।

मन को साधना असंभव नहीं :

यह बात सही है कि मन स्वभावतः बड़ा ही चंचल और प्रयत्नशील होता है । कठिनता से वशीभूत होता है, तथापि

इसका एकत्र करना असंभव कदापि नहीं । कतिपय उपायों से इसे वश में करके एकाग्र बनाया जा सकता है । इसका सरल–सा उपाय यह है कि इसको बहुमुखी न रखकर एकमुखी बनाया जाए । मनुष्य अपने मन को संसार की न जाने कितनी छोटी–छोटी बातों में उलझाए रहता है । उनमें से अधिकांश तो ऐसी ही होती हैं जिनसे न तो कोई प्रयोजन होता है और उनका जीवन के लिए उपयोग । मनुष्य को चाहिए कि वह संसार की तमाम निरर्थक और निरुपयोगी बातों को छोड़कर अपने मन को किसी एक निश्चित लक्ष्य, प्रयोजन अथवा ध्येय में लगाए । मन एक ही होता है । वह किसी एक ही प्रयोजन में पूरी तरह लगाया जा सकता है । वह एक बार में एक ही काम कर सकता है । जिस एक काम पर मन को संपूर्ण रूप से नियोजित रखा जाएगा, वह कार्य निश्चित रूप से सफल होगा, इसमें जरा भी संदेह नहीं ।

निरर्थक उत्सुक–वृत्ति से बचने के लिए मनुष्य को चाहिए वह अपनी विचारधारा को विशृंखलित न होने दे । सारी विचारधारा अपने ध्येय के चिंतन में ही लगानी चाहिए, जो लोग अपने ध्येय से अलग अपनी विचारधारा को बहने देते हैं, उनका मन अस्त–व्यस्त और चंचल ही बना रहता है । वह छिन्न–भिन्न होकर यहाँ–वहाँ भटकता रहता है जिससे उसकी वह शक्ति विकसित नहीं हो पाती जो जीवन की सफलता के लिए आवश्यक होती है ।

विचारधारा का प्रकार संगति और साहित्य से निर्मित होता है । **आदमी जिस तरह के लोगों के साथ रहता है और जिस प्रकार का साहित्य पढ़ता है, उसकी विचारधारा उसी तरह की हो जाती है ।** बातून, वाचाल और गप्पी लोगों का संग करने वाले भी बहुधा उसी प्रकार के हो जाते हैं । जासूसी कहानियाँ, उपन्यास अथवा कामोत्तेजक साहित्य पढ़ने वाले लोगों का मन एकाग्र नहीं हो पाता । बहुत से लोग अखबारों में

छपने वाले सनसनीखेज और विचित्र समाचारों को पढ़ने में ही रुचि लेते हैं । ऐसे लोग भी अपना मन एकाग्र करने में सफल नहीं हो सकते । **मन की एकाग्रता के लिए गंभीर, शालीन और उच्चकोटि के लोगों का ही साथ करना चाहिए और वैसा ही साहित्य पढ़ना चाहिए । सस्ता साहित्य और सस्ती संगति मनुष्य को स्वभावतः चंचल और हलका बना देती है । जो विचार अथवा कार्य मन में उद्वेग या हलचल पैदा करने वाले होते हैं उनसे एकाग्रता के उद्देश्य को हानि पहुँचती है ।**

विचारों की शक्ति महान् :

मन की एकाग्रता का दूसरा अर्थ है–विचारों की एकाग्रता । विचार व्यर्थ की चीज नहीं है । बहुत से लोग इस बात की चिंता नहीं करते कि उनके मन मस्तिष्क में किस प्रकार के विचार आते–जाते रहते हैं । गंदे और निरुपयोगी विचार आने पर भी वे उनमें तृण की तरह बहते रहते हैं । वे नहीं समझ पाते हैं कि इससे उन्हें क्या और कितनी हानि होती है । **विचार एक शक्ति है, अमोघ शक्ति । वे मनुष्य के संपूर्ण जीवन पर अपना स्थाई प्रभाव डालते हैं । अपने अनुरूप उसे हानि–लाभ की ओर ले जाया करते हैं ।**

जिनका मन–मस्तिष्क उत्साह और आशापूर्ण विचारधारा से परिचालित रहता है, जिनके विचार और आदर्श ऊँचे होते हैं, जो सदैव आगे बढ़ने, ऊँचे उठने और जीवन में कोई बड़ा काम करने की बात ही सोचते रहते हैं, निश्चय ही वे एक दिन अपने इस उद्देश्य में सफल हो जाते हैं । जिस प्रकार निरर्थक, निरुद्देश्य और विविधतापूर्ण विचार मनुष्य को चंचल और उसके मन की शक्तियों को छिन्न–भिन्न कर देते हैं, उसी प्रकार उसके ऊँचे उद्देश्य पूर्ण और आदर्शवादी विचार उसमें गंभीरता और एकाग्रता उत्पन्न कर देते हैं । विद्वान मनोवेत्ता सॉलोमन ने एक स्थान पर लिखा है–मनुष्य चुपचाप मन में जैसे विचार लिए फिरता है, वैसा ही वह बन जाता है । परंतु बड़ी–

बड़ी बातें करते रहने से कुछ नहीं होता । हमारे कथन में हमारे संकल्प का सत्य होना चाहिए । जिन विचारों में कोरी सच्चाई दृढ़ता और आस्था होगी, उन्हीं विचारों के पीछे सृजन की शक्ति निवास करती है ।

विचारशील बनिए :

जीवन में सफलता पाने के लिए मनुष्य का चिंतक और विचारशील होना नितांत आवश्यक है किंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि चाहे जिस तरह के विचार आ जाएँ । उनका ही चिंतन–मनन करते रहा जाए । अपने मन और मस्तिष्क में आने वाले विचारों को संपादित करते रहना चाहिए । मनुष्य के मस्तिष्क में नित्य ही हजारों विचार आते रहते हैं, किंतु वे सब के सब ही उपयोगी और सार्थक हों यह आवश्यक नहीं । मस्तिष्क में प्रतिक्षण आने वाले विचारों को देखते–परखते रहना चाहिए और जो विचार अपने उद्देश्य और प्रयोजन के लिए आवश्यक और उपयोगी दीखें उन्हें तो रहने दिया जाए और बाकी के सारे बेकार विचारों को निकाल कर फेंक देना चाहिए ।

यद्यपि विचारों को रोकने और निकाल फेंकने में थोड़ी कठिनाई जरूर होती है तथापि थोड़े से अभ्यास द्वारा यह सरल बनाया जा सकता है । कुछ समय सावधान तथा सक्रिय रहने के बाद मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा बन जाएगा कि उसकी चिंतनधारा में अनावश्यक विचार प्रवेश ही न करने पाएँगे । इस प्रकार जब मन में शुद्ध तथा सुंदर विचार दृढ़ होने लगेंगे तो वे स्वयं भी अपने से विरोधी विचारों को अपने क्षेत्र में नहीं ठहरने देंगे । विचार विचारों को स्वयं ही बुलाते और भगाते रहते हैं ।

मन की एकाग्रता की उपलब्धि होते ही मनुष्य के अंदर सोई वे सारी शक्तियाँ जाग उठेंगी जिनके बल पर वह असंभव दीखने वाले कामों को भी संभव कर सकता है । बिखरे मन और विश्रृंखल शक्ति से संसार में कोई भी बड़ा काम नहीं किया जा

सकता । अपनी शक्तियों का नियोजित उपयोग ही वह उपाय है, जिससे किसी भी कार्य की सिद्धि प्राप्त की जा सकती है । किंतु इस उपाय का प्रयोग एकमात्र एकाग्र मन पर ही निर्भर है । अस्तु, मनुष्य को अभ्यास अथवा साधना द्वारा मानसिक एकाग्रता प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

मन को प्रशिक्षित करें :

बादलों का पानी जमीन पर गिरता है । जमीन से ढलान पर बहने वाली नदियों में जाता है और नदियाँ समुद्र के गहरे गर्त में जा गिरती हैं । पतन का यही स्वाभाविक क्रम है । मन को यदि रोका न जाए तो वह भी इसी दिशा में स्वभावतः चल पड़ेगा । इसलिए वर्षा के पानी को समुद्र के गर्त से बचाकर किसी उपयोगी कार्य में लगाना या दिशा विशेष में बहाना हो तो उस पर भी रोकथाम लगानी होगी । पशुओं को खूँटे से बाँध कर ही निर्धारित कामों में लगाया जा सकता है अन्यथा वे छुट्टल छोड़ देने पर जिस–तिस का खेत उजाड़ेंगे, निरर्थक घूमेंगे और आपस में लड़ेंगे । इसलिए उन्हें अनुशासन में रखने के लिए मर्यादाओं का घेरा डालना और बंधन बाँधना पड़ेगा । मजबूत और ऊँचा बनाकर ही नदियों से सिंचाई के काम की नहरें निकाली जाती हैं ।

मन को चिंतन पक्ष में प्रशिक्षित करने के लिए उसे संयम के अनुबंध अपनाने के लिए प्रशिक्षित करना पड़ेगा । इंद्रिय संयम, अर्थ संयम, समय संयम और विचार संयम सीख लें तो समझना चाहिए कि अबोध मन वयस्क हो गया । मानवीय अभिलाषाओं को, माँगों को कोई पूरा नहीं कर सकता । तृष्णा की खाई इतनी गहरी है कि उसके लिए अनेक जन्मों का परिश्रम खपाया जाए तो भी उसको पाटा नहीं जा सकता । अंततः अब या फिर कभी उन विडंबनाओं में से कल्पनाओं को उबारना पड़ेगा । तो उसके लिए चिंतन पर अंकुश लगाने, इच्छाओं पर अंकुश लगाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग मिलेगा

नहीं ।

समय का सुनियोजन करें :

चिंतन के उपरांत मनुष्य की बड़ी शक्ति है–प्रयास, श्रम एवं समय का सुनियोजन । जीवन का तात्पर्य वर्षों की लंबाई नहीं वरन् यह है कि उसके समय घटकों का किस प्रकार किस निमित्त उपयोग किया गया । अनेक व्यक्ति थोड़े दिन जीते हैं, किंतु अभिमन्यु और भगतसिंह की तरह, विवेकानंद और रामतीर्थ की तरह अल्प आयु में ही अपने को, अपने समाज को कृत–कृत्य कर जाते हैं। कितने ही ऐसे होते हैं जो परम अवधि सौ वर्ष तक जी लेते हैं, पर रहते दूसरों पर भार बनकर ही हैं। ऐसे दीर्घ जीवन से क्या अपना और क्या दूसरों का लाभ ? जमाखोरों का जीवन मधुमक्खियों के समान ही रहता है। सारा दिन श्रम वह करती है और उस संचय का लाभ कोई दूसरा उठाते हैं। मन को समझाया जाना चाहिए कि मोहग्रस्त होकर सारा समय गँवाने से कोई लाभ नहीं है। जिस प्रकार एकाकी स्वार्थ चिंतन में अपनी बुद्धि लगाई जाती है, उसी प्रकार यह भी देखा जाना चाहिए कि जीवन संपदा का उपयोग मानवोचित रीति से हुआ या नहीं ? मनुष्य को अतिरिक्त बुद्धिमत्ता, अतिरिक्त क्षमता और प्रतिभाओं से भरा–पूरा जीवन दिया गया है। वह शरीर यात्रा भर के लिए खर्च नहीं हो जाना चाहिए, जिस प्रकार कीड़ों–मकोड़ों का होता है। वैभव बढ़ाकर ठाट–बाट रोपने में हमें भी मिथ्या अभिमान के अतिरिक्त और क्या मिल पाता है। उपयोग की एक सीमा है। उसके बाद जो बचता है, उसे दूसरे मुफ्तखोर ही हड़प जाते और हराम की कमाई को फुलझड़ी की तरह जलाते हैं। हो सकता है यह मुफ्तखोर तथाकथित कुटुंबी, संबंधी ही क्यों न हों?

मन खोलते समय सावधान रहिए :

प्रायः देखा गया है कि हम मन की बात किसी के सामने सहज रूप में रख देते हैं। यह आदत प्रायः हानिकर होती है।

कभी तो आपकी बात से आपका उद्धत अहंकार अभिव्यक्त होने लगता है तो कभी आत्महीनता। दोनों ही स्थितियाँ हानिकर हैं। देखा गया है कि लोग अपनी बीमारी, गरीबी, असफलता, दुर्भाग्य, तिरस्कार, हानि, विपत्ति आदि के विवरण सविस्तार दूसरों को सुनाने में बड़ी दिलचस्पी लेते हैं और कभी कभी उसमें नमक-मिर्च मिलाकर बढ़ा-चढ़ा भी देते हैं। ऐसे लोग यह आशा करते हैं कि सुनने वाला अपने प्रति सहानुभूति प्रकट करेगा, दुःखी होगा, दया करेगा और दुखिया समझकर उनके लिए सहायता या स्नेह के भाव रखेगा, परंतु यह आशा आमतौर से मिथ्या साबित होती है। इस दुनिया में ऐसा कायदा है कि जो सुखी, स्वस्थ, समृद्ध, संपन्न, सफल, सौभाग्यशाली तथा समर्थ होते हैं उन्हें ही दूसरों की सहानुभूति और सद्‌भावना प्राप्त होती है। सब कोई पहले अपने स्वार्थ को प्रधानता देते हैं पीछे दूसरे की ओर देखते हैं। अभागे की राम कहानी सुनकर सुनने वाला सोचता है, इस पर दैव का कोप है, पापों का फल भोग रहा है, आलसी या अयोग्य है, ऐसे आदमी से दूर रहना ही भला। यदि इसके साथ रहेंगे तो किसी न किसी प्रकार खीजना पड़ेगा, हानि उठानी पड़ेगी। ऐसे मित्रों को रखने से समाज में मेरी प्रतिष्ठा घटेगी। इन सब बातों को सोचता हुआ, सुनने वाला उस वक्त शिष्टाचार की तरह चार शब्द भले ही कह दे या टूटी-फूटी सहायता का टुकड़ा भले फेंक दे पर मन ही मन वह खिंचने लगता है, रूखापन और उदासीनता प्रकट करने लगता है। इस प्रकार वह आशा मिथ्या साबित होती है जिससे प्रेरित होकर आदमी अपने कष्टों को दूसरों को सुनाता है।

क्या किया जाए ? :

आप जो भी कार्य करना प्रारंभ करें उस पर मन को एकाग्र करने की आदत डालिए। आधे मन से प्रारंभ किया गया कार्य आधा-अधूरा ही रह जाता है। मन की एकाग्रता से आपकी वाणी में चुंबकत्व उत्पन्न हो जाएगा और अपने समक्ष उपस्थित

व्यक्ति से जब आप कोई बात कहेंगे तो उसका प्रभाव अभूतपूर्व होगा। अपनी असफलताओं और न्यूनताओं को समझें, **उन पर विचार भी करें, पर उनका रोना सबके सामने न रोएँ। इस संबंध में बहुत सावधानी बरतें। स्वयं को असफल, अभागा घोषित करने का स्पष्ट परिणाम है अपनी प्रतिष्ठा खो देना** । इतनी फुरसत किसी को भी नहीं है कि आपका रोना सुनकर स्वयं को दुःखी बनाए। प्रत्येक की अपनी कठिनाइयाँ होती हैं, आपकी मुसीबतें सुनकर अपना मन भारी करना किसी को नहीं भाएगा।

अपनी असफलताओं का बार–बार स्मरण करने या वर्णन करने से अपना हौसला टूटता है और मन पर अयोग्यता की छाप बैठती है। यदि एक आदमी को बार–बार पागल कहा जाए तो वह कुछ दिन में सचमुच ही आधा पागल बन जाएगा। कारण यह है कि सुप्त मन आदेशों को ग्रहण करके उन्हें अपने अंदर धारण करता है और फिर जीवन क्रम को उसी साँचे में ढालने लगता है। यदि मन में यह बात जमाई जाए कि हम अभागे हैं, दीन दुःखी हैं तो अंतर्मन उसी सूचना को स्वीकार कर लेगा और जीवन क्रम का निर्माण इस प्रकार करेगा कि सचमुच ही जीवन दुर्भाग्यों से भर जाएगा। **यदि आप सौभाग्यशाली बनना चाहते हैं, सुनहरे भविष्य की आशा करते हैं तो स्मरण रखिए कि अपने जीवन के प्रेरक, सफल, उल्लासपूर्ण प्रसंगों को ही दूसरों के सामने व्यक्त करें, पर सावधानी बरतें, कहीं आपके वर्णन में से आपका अहंकार न झाँकने लगे।**

जो व्यक्ति कहता है कि 'मैं संयम नहीं कर सकता' वह चरित्र की छोटी-मोटी किसी एक भी परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सकेगा । संयम ही चरित्र का मुख्य आधार है ।

जीवन जीने की कला भाग–३/११

यूनिट-१८ मनुष्य से महान् और कुछ नहीं

आस्तिकता क्या है ? :

मन को प्रशिक्षित करने एवं किसी के समक्ष अपना मन खोलते समय बरती जाने वाली सावधानियों के संबंध में अध्ययन किया गया। अब हम कुछ ऐसे दार्शनिक पारिभाषिक शब्दों के संबंध में विचार करेंगे जिनके संबंध में अनेकानेक भ्रांतियाँ फैली हैं। आधुनिक लक्ष्यहीन शिक्षा पद्धति के फलस्वरूप एक ओर नई पीढ़ी नास्तिक होती जा रही है तो दूसरी ओर अध्यात्म एवं धर्म के सही अर्थ को न समझ पाने के कारण भ्रम की स्थिति से कोई उबर नहीं पा रहा है। सफल जीवन जीने के लिए आस्तिकता, आध्यात्मिकता और धार्मिकता की सही व्याख्या समझनी आवश्यक है।

आस्तिकता का अर्थ है ईश्वर में विश्वास । ईश्वर एक सर्वव्यापी सत्ता है जो सारे विश्व का नियंत्रण करती है। उसी के नियम, अनुशासन में बँधकर ही विश्व के समस्त क्रिया-कलाप संचालित होते हैं। उसका न्याय अटल एवं निर्विवाद है। वह आदर्शवादिता एवं उत्कृष्टता का समुच्चय है। उस जगन्नियंता, न्यायकारी, शाश्वत, नेक एवं आनंदमय सत्ता में विश्वास ही आस्तिकता है। उसे ईश्वर, खुदा अथवा गॉड किसी भी नाम से पुकार सकते हैं। जिस प्रकार जल, पानी, वाटर कहने से भाषागत नामों की भिन्नता होते हुए भी उसका स्वरूप एवं प्रकृति में परिवर्तन नहीं होता। उसी प्रकार परमात्मा का कार्य सार्वभौमिक, शाश्वत एवं निर्विवाद है। वह न्याय का पक्षधर, कर्मफल दाता इतना समर्थ है कि उसकी दृष्टि से कोई बच नहीं सकता है।

आस्तिकता का अंकुश :

ईश्वर सर्वव्यापी है, सर्वज्ञ है, सबको देखता है। यह विश्वास ही आस्तिकता है। आस्तिकता हमें पापकर्म में प्रवृत्त होने से बचाती है। जैसा बोएँगे, वैसा ही काटेंगे। ईश्वर-विश्वासी यह समझता है कि ईश्वर की न्यायप्रियता एवं निष्पक्षता अक्षुण्ण है, अबाध है। उसे कोई धोखा नहीं दे सकता है। आस्तिक केवल ईश्वर से डरता है। जो ईश्वर से डरता है उसे संसार में किसी और से डरने की आवश्यकता नहीं होती है। मनुष्य सांसारिक न्यायालयों को झुठला सकता है, अपराधी कानूनी दाँव पेचों से अपना बचाव कर सकता है, किंतु ईश्वर के न्याय से नहीं। यही विश्वास आस्तिक व्यक्ति को सत्कर्म करने के लिए प्रेरित करता है। **आस्तिकता एक प्रकार का अंकुश है जो व्यक्ति को ईमानदार बनने के लिए, श्रेष्ठ जीवन जीने के लिए बाध्य करता है।**

आस्तिकता उत्कृष्टता से जोड़ती है :

मत्था टेक कर, दीपक जलाकर अथवा प्रसाद चढ़ाकर मनोकामना पूर्ण करने वाले किसी ईश्वर के प्रति विश्वास को आस्तिकता नहीं कहते हैं। उसका अर्थ है सत्प्रवृत्तियों के समुच्चय को सघन आस्था, अटूट निष्ठा एवं गहनतम श्रद्धा के साथ अपना लेना। **ईश्वर व्यक्ति विशेष की भाँति शरीरधारी नहीं है जिसे उपहार-मनुहार द्वारा अपनी ओर आकर्षित किया जा सके और मनमाफिक अपनी इच्छानुसार कार्य कराए जा सकें। आस्तिकता का अर्थ है उत्कृष्टता के साथ जुड़ने और सत्परिणामों, सद्गति एवं सर्वतोमुखी प्रगति पर विश्वास करना।**

आस्तिक धैर्यवान् एवं अटूट निष्ठावान् :

आस्तिकता अपनाने पर सत्परिणाम सुनिश्चित होते हैं किंतु कभी-कभी उसकी उपलब्धि में देर-सबेर होती है। ऐसे अवसरों पर ईश्वर-विश्वासी विचलित नहीं होते हैं। अंग्रेजी

कवि जॉन मिल्टन की भाँति धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते हैं और आस्था-विश्वास अखंडित रखते हैं। दिव्य सत्ता के साथ जितनी सघनता से जुड़ेंगे और ईश्वरीय अनुशासन एवं अनुबंधों का जितनी ईमानदारी, सच्चाई और गहराई के साथ पालन करेंगे, उतना ही उसका कल्याण होगा। आस्तिक न तो याचना करता है, न ही पात्रता से अधिक पाने की अपेक्षा करता है।

आध्यात्मिकता का अर्थ :

आध्यात्मिकता का अर्थ है आत्मावलंबन। आध्यात्मिक होने का अर्थ है स्वयं को पहचानना अर्थात् आत्मबोध। जिन्हें इसका ज्ञान नहीं होता है वह अपनी आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए, सुख की खोज में कस्तूरी मृग की भाँति बाहर-बाहर भटकते रहते हैं। अध्यात्मवादी किसी अधिकारी, नेता अथवा ईश्वर की कृपा की बैसाखी के सहारे नहीं चलता है। असफल होने पर वह अपने भाग्य अथवा परिस्थितियों को दोष नहीं देता है। परीक्षाएँ जिन दिनों चल रही हों, तब देखिए किसी विद्यार्थी के मस्तक पर चंदन लगा होगा, तो किसी के देवी का भभूत अथवा हनुमान प्रतिमा का सिंदूर। वे सब परीक्षा-केंद्र पर आने से पहले अपने-अपने पारिवारिक इष्ट से प्रार्थना करके आते हैं कि हे प्रभो, हे देवी माता, हे बजरंगबली इतनी कृपा करना कि मैं परीक्षा में पास हो जाऊँ। क्या यही है अध्यात्म ? क्या यही है आध्यात्मिकता ? ईश्वर चापलूसी पसंद नहीं होता है, जो आपकी खुशामद से प्रसन्न हो जाए। वह रिश्वतखोर नहीं है जो प्रसाद-मिष्ठान्न के लालच में आपको बिना परिश्रम-पुरुषार्थ के अनपेक्षित फल दे दे। अध्यात्मवादी जानता है कि परिस्थितियाँ कहीं बाहर से नहीं आती हैं। हमारी मनःस्थिति ही परिस्थिति का निर्माण करती है। हम हर समय आत्महीनता, हताशा एवं अशांति का नारकीय जीवन क्यों जिएँ ? स्वयं को पहचानें। अपनी कमियों का निरीक्षण करें। अपनी महानता भी समझें

और फिर आत्मशोधन एवं आत्मपरिष्कार की क्रिया प्रारंभ कर दें स्वर्ग और नरक तो हमारे भीतर ही है। अध्यात्मवादी अपनी पात्रता का विकास करते हैं। आत्मपरिष्कार करते हैं। कपड़ा रंगने से पहले धोया जाता है। आभूषण बनाने के लिए सोना गलाया जाता है। आत्मपरिष्कार से पात्रता का विकास होता है। पात्रता के अनुसार ईश्वरीय अनुदान अवश्यमेव मिलते हैं। यह ईश्वरीय व्यवस्था है। इसमें कहीं कोई भूल संभव नहीं है। अध्यात्म देखना हो तो मीरा का अध्यात्म देखें, जिसके प्याले का विष भी अमृत बन गया था। अध्यात्म था रैदास का जिसकी कठौती में स्वयं गंगा उपस्थित हो गई थीं। अध्यात्म शबरी का देखें जिसकी कुटी में नंगे पाँव पहुँचकर श्रीराम ने झूठे बेर खाए थे। **आध्यात्मिकता आ जाए तो सांसारिक कष्ट–कठिनाइयाँ डिगाती नहीं हैं, प्रत्येक विघ्न–अवरोध व्यक्ति के गुणों में और निखार लाते प्रतीत होते हैं और व्यक्ति सुख–सुविधाओं के लिए द्वार–द्वार अथवा मंदिर–मस्जिद में गिड़गिड़ाता नहीं फिरता है, वह आत्म–विश्वासी एवं आत्मावलंबी बन जाता है।**

धर्म और संप्रदाय :

धर्म के अर्थ का जितना अनर्थ आज देखने को मिलता है उतना पहले कभी नहीं। धर्म और संप्रदाय को पर्याय की भाँति प्रयोग किया जाने लगा है। धर्म जीवन–यापन की एक पद्धति है, जिसमें मानवीय गरिमा को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार जीवन जिया जाता है, जिसके प्रकाश में जनसाधारण को श्रेष्ठता की दिशा में चलने की प्रेरणा मिले। संप्रदाय समय और परिस्थितियों के अनुरूप गतिविधियाँ अपनाने की ऐसी विधि–व्यवस्था है, जो अनेक बार बदली है और समय–समय पर बदली जाती रहेगी। वह अस्थिर इसलिए है कि समय के प्रवाह में वह घिसती–टूटती रहती है। इसलिए नाव की तरह उसकी बार–बार मरम्मत करनी पड़ती है। धर्म शाश्वत है। मानवीय गरिमा के अनुरूप

अपनाई जाने वाली धर्म–धारणा ऐसी है जिसे कि सार्वभौम एवं अपरिवर्तनीय कहा जा सकता है, जबकि संप्रदायों में परिवर्तन, परिशोधन का उपक्रम सदा से चला है और सदा चलता रहेगा।

धर्म को कर्त्तव्य का पर्याय माना जाना ही उचित है । जो कर्त्तव्य को समझता है, उसका निष्ठापूर्वक परिपालन करता है, वही धार्मिक है। आज स्थिति विचित्र–सी हो रही है। रामायण, गुरु ग्रंथसाहब, कुरानशरीफ या बाइबिल पढ़ने वाले, माला जपने, कीर्तन करने, नमाज अदा करने वाले को धार्मिक समझा जाने लगा है, चाहे उसका आचरण कितना ही दूषित क्यों न हो। चाहे उसका हृदय संवेदना से कितना ही शून्य क्यों न है, जिसे उचित–अनुचित का भेद करना नहीं आता, जो नीति अपनाने और अनीति से बचने के लिए संकल्पित एवं प्रयासरत नहीं है, उसे अधर्मी ही कहा जाएगा, भले ही वह धर्माध्यक्ष अथवा धर्मोपदेशक का आवरण ही क्यों न ओढ़े हो। धर्म, **वह लक्ष्मण रेखा है जिसमें मात्र अपने कर्त्तव्यों का ध्यान रखा जाता है और यह भुला दिया जाता है कि उसका बदला मिलेगा अथवा नहीं।**

धार्मिकता का प्रयोजन :

धर्म सार्वभौमिक आचरण का निर्धारण है। **धार्मिकता का अर्थ हुआ कर्त्तव्य परायणता। इसे आत्मानुशासन भी कहा जा सकता है। जिसमें सच्ची धार्मिकता होगी उसका आचरण नैतिक होगा, जीवन उत्कृष्ट होगा, चरित्र–चिंतन समाज के सभी वर्गों के लिए कल्याणकारी होगा।** धर्म शाश्वत है। धर्म संस्थापकों में से प्रायः सभी सुधारवादी हुए हैं, उन्होंने पुराने प्रचलनों को बदला और उनके स्थान पर नई परंपराओं की स्थापना की है। सुधारवाद अपनाने के कारण ही ईसा को पुराने मतावलंबी यहूदियों ने मृत्युदंड दिया। उन पर दोष यही मढ़ा कि वे ईश्वर की स्थापनाओं के विरुद्ध बगावत करते थे। लगभग ऐसे ही आरोप उन सभी पर लगाए गए जिन्होंने नए धर्म संप्रदायों का

प्रारंभ किया था और अपनी बात को ईश्वर का संदेश कहा था।

विचारणीय है कि ईश्वर को ऐसी क्या पड़ी कि एक समय में एक प्रकार की मान्यता चलाए और कुछ दिन बाद ही उसमें परिवर्तन करने के लिए नए सुधारक भेजे ? वास्तविकता यह है कि धर्म अनादि और अनंत है। मनुष्य के लिए उसमें ऐसे निर्धारणों का समावेश है, जिनके आधार पर वह सज्जन, सच्चरित्र एवं दूसरों का सहायक, सहयोगी बनकर रहे। उसमें प्रेम और करुणा को, संयम और सेवा को प्रश्रय दिया गया है। सभी धर्मों में इन महान् सिद्धांतों का समावेश है, इसलिए उन्हें ही धर्म की आत्मा माना जाना चाहिए। उनमें छल, दंभ, निष्ठुरता, क्रूरता एवं अपराधी दुष्प्रवृत्तियों के लिए कहीं कोई गुंजाइश नहीं है। संप्रदायों के बीच ऐसा दुराग्रह पाया जाता है कि हमारी मान्यताएँ एवं प्रथा–परंपराएँ ही सही हैं। इसके अतिरिक्त और सब झूठे हैं। अपनी पुस्तकों में जो कुछ कहा गया है, वही ईश्वर का वचन है और जिसकी मान्यता इससे भिन्न है, वे सभी नास्तिक हैं और इस योग्य हैं कि उन्हें प्रताड़ित किया जाए, धरती पर से मिटा दिया जाए। ऐसे प्रतिपादन ईश्वरकृत नहीं हो सकते। वे संप्रदायों के दुराग्रह हैं। इसी के कारण खून–खराबा होता है और घृणा से द्वेष की, पराएपन की भावना फैलती है।

प्रथा–परंपराएँ बनती हैं। सांप्रदायिक अनुबंधों में अंतर पड़ता रहा है, पर मानव धर्म का मूलभूत आधार सदा एक रहा है। उसमें अंतर आने की कोई गुंजाइश नहीं है। मानवीय गरिमा के अनुरूप श्रेष्ठ आचरण ही धर्म है और उसके संबंध में सार्वजनीन मान्यता एक जैसी है। उसी सार तत्व को हमें अपनाना चाहिए। सर्वव्यापी, सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ परमात्मा को एक रूप में ही मानना अच्छी बात है, अब इसे कोई **एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति** कहकर स्मरण रखे या **लाइलाहाइल्लिल्लाह** कहकर याद रखें, इसमें बुराई कहाँ है ? ईश्वरीय प्रकाश जागृत आत्माओं

में प्रस्फुटित होता है, वह समयानुसार मार्ग–दर्शन देते हैं, यह तथ्य स्मरणीय है, इसे चाहे तब–तब प्रभु धरि मनुज शरीरा के रूप में सोचें या मोहम्मद रसूलिल्लाह के रूप में समझें। उसका उद्देश्य युग पुरुषों के मार्गदर्शन का लाभ उठाना है तो क्या हानि है ? किसी के सम्मान के लिए कोई टोप उतार कर सिर उघाड़ दे तो क्या या सिर पर रूमाल ही डालकर सिर ढँक ले तो क्या, भाव तो सम्मान करने का है। लौकिक बाह्य क्रिया–भेद उस भावनात्मक एकता के आगे अधिक महत्त्व नहीं रखते ।

क्या किया जाए ? :

इसलिए धार्मिक बनने का प्रयास कीजिए। अधार्मिक अथवा अधर्मी, जो पापाचारी का पर्याय है, मत बनिए। बाह्याडंबरों के भेद–विभेद में मत उलझिए। आप हिंदू हैं, मुसलमान हैं, ईसाई अथवा और कुछ भी हैं, यह समझ लीजिए कि कर्त्तव्यपालन से जी चुराने वाले अथवा दुराचारी की दुआ, मंत्र–जप, नमाज आदि विधि–विधान कोई उसके कृत पापों के परिणाम भुगतने से उसे बचा नहीं सकेंगे। धर्म को कर्त्तव्यपालन के विशाल अर्थ में समझिए। आपके कंधों पर ईश्वर ने बहुत सी जिम्मेदारियाँ लादी हैं जिनके निर्वाह करने में आपको बहुत से अनुशासनों एवं नैतिक नियमों का पालन करना होगा। अपने शरीर के प्रति, परिवार के प्रति जो कर्त्तव्य हैं, उनका पालन करें और आस्तिक, आध्यात्मिक और धार्मिक होने का गौरव प्राप्त करें।

चिंता ओर परेशानी की भट्टी में जलते हुए मानव के लिए शांति कहाँ ? पर मैं कहूँगी कि शांति है । शांति मस्ती में, खुशमिजाजी में, परिहासपूर्ण स्वभाव में, आनंदी और उत्साही मुख मुद्रा में है ।

– वंदनीया माताजी

समय संयम तथा अर्थ संयम

संपदा को व्यर्थ न गँवाएँ :

संपूर्ण संसार का नियंत्रण करने वाली न्यायकारी शक्ति में विश्वास ही आस्तिकता है, स्वयं के वास्तविक स्वरूप का बोध होना आध्यात्मिकता है तथा धार्मिकता का अर्थ है– कर्त्तव्य परायणता। यदि हम आस्तिक हैं तो समाजविरुद्ध कार्य करने से डरेंगे। यदि हम आध्यात्मिक हैं तो औरों की पीड़ा–वेदना को अपनी सी समझेंगे और संवेदना से परिपूरित होंगे। यदि हम धार्मिक हैं तो कर्त्तव्य पालन करने से कभी भी पीछे नहीं रहेंगे।

समय ही जीवन और श्रम ही वैभव है। कौन कितने दिन जिया, इसका लेखा जोखा जन्म दिन से लेकर मरणपर्यंत दिन गिनकर नहीं वरन् इस आधार पर लगाया जाना चाहिए कि किसने अपने समय का उपयोग महत्त्वपूर्ण प्रयोजनों के लिए किया । समझ लें कि समय के असंयमी ही अल्पजीवी कहलाते हैं । भले ही उनकी आयु कुछ भी हो । **समय ईश्वर प्रदत्त संपदा है । उसे श्रम में मनोयोगपूर्वक नियोजित करके विभिन्न प्रकार की विभूतियाँ अर्जित की जाती हैं । जो समय गँवाता है, उसे जीवन गँवाने वाला कहा जाता है ।** प्रायः आधा समय कुचक्रों की उलझन में और उतना ही समय आलस्य प्रमाद में लगाने वाले को लंबी आयु तक जीने का क्या संतोष आनंद मिला ? समय का मूल्य उनींदी अवस्था में तो जान नहीं पाते, किंतु विदाई के दिन आते ही आँखें खुलती हैं । तब सोचते हैं कि उन्होंने बहुमूल्य अवसर निरर्थक कार्यों में ही गँवाया अर्थात् काल का ग्रास देने वाला अंधकार ही कमाया । काल बोध के आधार पर जीवन सुव्यवस्थित बनाकर चलने वाला ही जीवन

जीवन जीने की कला भाग–३/१९

देवता का सच्चा पुजारी है । **जीवन के एक–एक क्षण को हीरे–मोतियों से तौलने लायक मानकर उसका सदुपयोग किया जाना चाहिए ।**

समय दैवी संपदा है, इसका सदुपयोग किया जाना चाहिए । दूरगामी चिंतन होना चाहिए । काल को भगवान मानना चाहिए । संयम निषेधात्मक नहीं विधेयात्मक गुण है । एक ओर अनावश्यक अपव्यय को रोकना है तो दूसरी ओर सृजनात्मक कार्यों हेतु नियोजित करना भी है । संचय करके उसका नियोजन कहीं न हो तो वह संचय ही बेकार है । संयम का स्वरूप समझ कर ही उसका लाभ उठाया जा सकता है । व्यक्ति सर्वप्रथम संयम का लाभ समझने का प्रयास करें । समय और श्रम को सार्थक और उच्च उद्‌देश्यों के लिए नियोजित करने पर कार्य में सफलता मिलती है ।

असंयमी समस्याओं का सामना करने में असमर्थ :

संयम का अर्थ अपनी शक्तियों का सदुपयोग है । जहाँ शक्तियों के दुरुपयोग को रोकना संयम का एक पक्ष है, वहीं उसका सदुपयोग करना भी दूसरा पक्ष है । आराम से पड़े रहने पर शक्तियों का कोई अपव्यय नहीं होता, लेकिन आलस्य करते रहने से उनका कोई उपयोग भी नहीं हो पाता । इसलिए सुस्ती और आरामतलवी की वृत्ति असंयम ही कही जाएगी । असंयम के कारण हानि होती है–यह एक सिद्धांत है । सर्वविदित है कि **जिस वस्तु का उपयोग नहीं होता, वह अपनी विशेषता खो देती है । आलस्य में पड़े रहने, ऐशो–आराम का जीवन व्यतीत करने, श्रम शक्ति का उपयोग न करने वाले व्यक्तियों का शरीर इतना कोमल हो जाता है कि वे सर्दी–गर्मी की साधारण प्रतिकूलता भी बर्दाश्त नहीं कर पाते ।** जिस प्रकार छुईमुई के पौधे उँगली लगते ही मुरझा जाते हैं, उसी प्रकार ऐसे शरीर जो परिश्रम के अभ्यासी न हों, थोड़ा–सा दबाव पड़ते ही कुम्हलाने

लगते हैं । बैठे ठाले आदमी बाहर से मोटे भले ही लगें, पर जीवनी शक्ति की न्यूनता के कारण उनके शरीर विभिन्न प्रकार के छोटे–मोटे रोगों से ग्रसित रहते हैं । बैठे रहने के कारण जो रुग्णता उत्पन्न हुई थी, वह धीरे–धीरे परिपक्व होकर इतनी मजबूत हो जाती है कि फिर उस व्यक्ति को बैठे–ठाले रहने के लिए ही विवश कर देती है । कोई समस्या हल नहीं कर पाता । एक उलझन सुलझाने के बारे में सोचता है, दूसरी नई चार उलझनें और सामने आ खड़ी होती हैं । ऐसे व्यक्ति न तो कोई बड़ा साहस कर सकते हैं और न निर्द्वंद्व रह सकते हैं । चारों ओर उन्हें उलझनों का जाल–जंजाल ही बिखरा मालूम देता है ।

अनावश्यक कार्यों से बचें :

हमारा बहुत–सा समय व्यर्थ के कार्यों में ही लग जाता है । यदि उसका ठीक ढंग से उपयोग किया जाए, अपने जीवन का व्यस्त कार्यक्रम बनाया जाए और आत्म विकास के लिए परिश्रम किया जाए तो न जाने क्या किया जा सकता है ? विनोबा भावे ने स्कूली शिक्षा एक छोटे से दर्जे तक ही प्राप्त की थी, परंतु उन्होंने अपने जीवन का ऐसा व्यस्त कार्यक्रम रखा कि समाज सेवा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य करते हुए भी वैयक्तिक अध्ययन जारी रखा और वे आज संसार के प्रायः प्रमुख भाषाओं और विचारधाराओं के विद्वान हैं । उनकी तुलना के मनीषी संसार में गिने–चुने ही होंगे । शिक्षा विषयक इतनी प्रगति के पीछे कोई चमत्कार नहीं, वरन् उनका अनवरत, क्रमबद्ध और मनयोगपूर्वक किया हुआ श्रम ही है । यही राजमार्ग हम सबके लिए भी खुला पड़ा है, जो चाहे उस पर खुशी–खुशी चल सकता है । दो घंटे निरंतर अध्ययन किसी व्यक्ति को ३० वर्ष में संसार की प्रमुख भाषाओं का विद्वान बना सकता है । आवश्यकता समय को अनावश्यक कार्यों से बचाने और उपयोगी दिशा में नियोजित करने भर की है ।

जीवन जीने की कला भाग–३/२१

समय सबसे बड़ा धन :

बूढ़े होने या प्रौढ़ता प्राप्त कर लेने के कारण निराश होने की आवश्यकता नहीं है । प्रगति के लिए न कोई उम्र होती है और श्रम के लिए न कोई आयु का बंधन । अतः समय के अपव्यय की जो गलती हो गई सो हो चुकी । उसे अब न होने दिया जाए तथा उपयोगी कार्यों में ही समय लगाने की रीति–नीति अपनाई जाए ।

मनुष्य के पास ईश्वर प्रदत्त पूँजी समय है । अतः जब तक जीवन है तब तक सारा समय श्रम करते हुए बिताना चाहिए । जितना समय आलस्य में पड़े रहकर निठल्लेपन से बिता दिया, समझना चाहिए कि जीवन का उतना ही अंश बर्बाद हो गया । जो भी हमें अभीष्ट हो, जो कुछ भी हम चाहते हैं, उसी में मनोयोगपूर्वक लग जाना चाहिए–सफलता मिलेगी । आलस्य दरिद्रता का ही दूसरा नाम है । आलसी बनने का अर्थ ही दरिद्र बनने की भूमिका तैयार करना है । निठल्लापन अमीरों का चिह्न माना जाता है, पर सही बात यह है कि श्रम के द्वारा स्वास्थ्य एवं संपन्नता मिलती है और जब मनुष्य को आलस्य घेर लेता है तो उसका पतन आरंभ हो जाता है ।

सुव्यवस्थित समय विभाजन कीजिए :

समय के श्रेष्ठतम सदुपयोग का एक मात्र उपाय है उसका सुव्यवस्थित विभाजन और तदनुसार अपने प्रत्येक कार्य का संपादन । यदि हम अपने दिन भर के कार्यों पर दृष्टिपात करें और उनका विश्लेषण करें तो प्रतीत होगा कि हमारा अधिकांश समय तो सुस्ताने या बदन तोड़ते बीता अथवा गप–शप और व्यर्थ की बकवासों में समय की बर्बादी हुई । यदि समय के महत्त्व को समझा जाता और उसके सदुपयोग की बात सोची जाती तो बहुत–सा खाली समय निकल सकता था तथा उसका उपयोग कर अपनी योग्यता, क्षमता, बढ़ाई जा सकती थी ।

समय सारिणी बनाकर काम करने की आदत इतनी जादू भरी है कि मनुष्य को समय की बर्बादी न करने का अभ्यस्त बना देती है । जैसे हिसाब लिखे बिना नफा-नुकसान का कुछ पता ही नहीं चल पाता, उसी तरह बिना समयचक्र बनाए काम करते रहने वाले को भी यह प्रतीत नहीं होता कि समय का उचित उपयोग हुआ या नहीं । अनेक काम जो आज से कल पर टाले जाते हैं, उसका कारण भी समय का समुचित निर्धारण एवं विभाजन न कर सकने का प्रमाद ही होता है । यदि यह दोष दूर कर लिया जाए तो काम दूना होने लगे और उपयोगी कामों के लिए समय न बचने की शिकायत भी न करनी पड़े ।

अर्थ संयम :

मितव्ययिता एक साधारण गुण है । जो लोग इसके महत्त्व को नहीं समझते और उसकी शक्ति से अपरिचित रहते हैं वे हमेशा आर्थिक कठिनाइयों में फँसे रहते हैं, साथ ही परिवार की उन्नति रोक देते हैं और जिसने भी जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन का उपयोग किया है, अपव्यय नहीं किया-उसका जीवन सुखी रहा । कृत्रिम आवश्यकताएँ बढ़ा लेने अथवा अपनी स्थिति से अधिक प्रदर्शन करने के लिए हमें अपनी सामर्थ्य से ज्यादा खर्च करना पड़ता है । यों तो जीवन की आवश्यकताएँ कितनी ही हैं, इसकी कोई सीमा या कसौटी नहीं है । मनुष्य की कुछ आवश्यकताएँ तो ऐसी हैं जो कि बहुत ही आवश्यक हैं । कुछ बहुत ही साधारण-सी हैं और **बहुत-सी आवश्यकताएँ अनिवार्य हैं । इसलिए अपनी आर्थिक स्थिति को देखकर ऐसी व्यवस्था बनानी चाहिए** कि अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति पहले हो और फिर दूसरी आवश्यकताएँ पूरी हो सकें । बहुत से लोग धन का सदुपयोग करने के बजाए उसकी उपयोगिता झूठी शान-शौकत दिखाने, फैशन परस्ती एवं दुर्व्यसनों की पूर्ति में ही समझते हैं । जिनके

पास इतना धन है कि वे इन कार्यों में अपना पैसा खर्च कर सकें उनके लिए भी हानिकारक हैं और समाज के लिए भी । क्योंकि उन्हें देखकर गरीब लोग भी जिनके पास अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भी पर्याप्त धन नहीं रहता इस तरह के अनावश्यक कार्यों में खर्च करने लगते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि इसी में बड़प्पन है । अच्छा तो यह है कि यदि अपने पास इतना पैसा हो कि वह आवश्यकता पूर्ति में खर्च करने के बाद भी बचे तो उसे इकट्ठा किया जाए । वह बचा हुआ पैसा आड़े वक्त पर काम आ सकता है या किसी अन्य कार्य में लगाया जा सकता है, लेकिन लोग इस ओर जरा भी ध्यान नहीं देते । वास्तविकता यह है कि जो जितना महान होगा वह उतना ही सजावट और प्रदर्शन के विरुद्ध होगा । हम केवल इस प्रवृत्ति के वशीभूत होकर कि दूसरे हमें अपने से कम न समझें, पैसे को अनाप–शनाप खर्च करते चलते हैं । संसार में जितने भी महापुरुष, बड़े विद्वान एवं विचारवान् व्यक्ति हुए हैं उनमें मितव्ययिता की प्रवृत्ति पाई गई है ।

अविवेकपूर्ण प्रदर्शन में अपव्यय :

वस्त्रों की आवश्यकता इसलिए होती है कि हम अपने शरीर को ढँक सकें । सर्दी–गर्मी से शरीर का बचाव कर सकें और यह साधारण मूल्य के कपड़े से संभव है । यह केवल मूढ़ लोगों का ही दृष्टिकोण होता है कि फैशन, जेवर या व्यसन, बड़प्पन, अमीरी का चिह्न है । वस्तुतः यह अबुद्धिमत्ता और मूढ़मति होने का चिह्न है । समाज में धन का उद्धत प्रदर्शन करने वालों की नहीं सादगी, सुसज्जा और सुरुचिपूर्ण ढंग से काम करने वाले सद्‌गुणी व्यक्तियों की प्रतिष्ठा होती है । दरअसल हम जितनी अधिक आवश्यकताएँ बढ़ाते हैं परेशानियाँ उतनी ही बढ़ती जाती हैं और उनकी पूर्ति के लिए उचित–अनुचित साधनों का प्रयोग करना पड़ता है । प्रत्यक्ष में इसके परिणाम

बेईमानी, घूँस, चोरी, हत्या, गृहकलह आदि के रूप में देख रहे हैं । समाज में अधिकांश आर्थिक अपराधों की जड़ धन का उद्धत और अविवेकपूर्ण प्रदर्शन ही है । जिन लोगों को वैसे साधन और वैसे अवसर उपलब्ध नहीं हो पाते, जैसे अपने से अमीर व्यक्तियों के पास उपलब्ध होते हैं तो वे भी उन साधनों को प्राप्त करने के लिए ललक उठते हैं । वह ललक इतनी तीव्र होती है कि व्यक्ति जिस किसी भी ढंग से संभव हो, उचित या अनुचित हर ढंग से उसे प्राप्त कर लेना चाहता है । ईमानदारी और मेहनत से कमाने के लिए लंबी प्रतीक्षा करनी पड़ती है ।

संयम और सादगी से जीवन का उत्कर्ष :

संपन्न हो या निर्धन, अपव्यय तो किसी को भी नहीं करना चाहिए । अपव्यय व्यक्तिगत दृष्टि से भी और सामाजिक दृष्टि से भी अनर्थकारी है । इसलिए कहावत है कि ''धन कमाना सरल है, पर उसे खर्च करना कठिन है'' । सादगी एक ऐसा नियम है जिसके सहारे हम अपने वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन की बहुत सी समस्याओं को सहज ही हल कर सकते हैं । सादगी के द्वारा अपना बहुत-सा समय एवं धन, खर्च होने वाली शक्तियाँ बचा सकते हैं और उनका अपने उत्कर्ष के लिए सदुपयोग कर सकते हैं । इसीलिए हमारे पूर्वजों ने जीवन के बाह्य विभाग को कम महत्व दिया । सादगी से जीवन बिताने के लिए कहा है ताकि हमारी शक्ति व्यर्थ नष्ट न होकर उसका सदुपयोग अच्छे कार्यों में किया जा सके । जीवन के महान् लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उल्लेखनीय सफलताओं के लिए, यही मार्ग हर व्यक्ति को अपनाना चाहिए । विभूतियों को सही दिशा में नियोजित करना संयम साधना के बिना संभव नहीं । अस्तु संयम वृत्ति का विकास संयम साधना का अभ्यास हम जितनी तत्परता से कर सकें आत्मकल्याण एवं जनकल्याण की दिशा में उतनी ही अधिक प्रगति कर सकेंगे ।

जीवन जीने की कला भाग-३/२५

क्या किया जाए ?

आपने ऐसे व्यक्ति देखे होंगे जो बातें करने बैठें तो न अपने समय का उन्हें ध्यान रहता है न दूसरे के । समय का मूल्य न पहचानने वाले लोग कभी सफल नहीं हो सकते । कृपया ध्यान रखें, **समय अमूल्य है, समय तथा धन को बड़ी सावधानी से, सुनियोजित ढंग से व्यय करें** । जब भी किसी से बात करें तो कम–से–कम समय में ही अपनी बात कहें । यदि आपकी बात में अधिक समय लग रहा हो तो बातचीत के बीच सुनने वाले व्यक्ति की भाव–भंगिमा का भी ध्यान रखें । कहीं वह ऊब तो नहीं रहा है । अपनी दिनचर्या का समयबद्ध नियमन कर लें । इससे आपको ही नहीं, परिवार के अन्य सदस्यों को भी सुविधा होगी । परिवार में सबको ज्ञात है कि आप चार बजे अपराह्न चाय पीते हैं तो भोजन के पश्चात् चार बजे तक आपकी पत्नी विश्राम कर सकती हैं । पारिवारिक बजट की भाँति समय सारिणी बना लेना बहुत उपयोगी है । आपको आगामी माह में कितनी आय की आशा है, किन–किन मदों में आपको क्या–क्या व्यय करना है ? यह सब लिखित में अनुमान लगाइए । इस ओर जरा–सी असावधानी से आपके परिवार का सारा संतुलन बिगड़ सकता है । बजट बनाने से पूर्व अपने बच्चों, अपनी पत्नी तथा जो भी अन्य सदस्य हों उनसे अनुमानिक व्यय पूछना न भूलें । बजट ठीक होगा तो सभी में विश्वास एवं संतोष होगा, क्लेश–कलह का वातावरण नहीं होगा ।

> ***असफलता, निराशा, भूल और दुःखों से मन को पराजित न होने दीजिए । ये प्रतिकूलताएँ लोक-व्यवहार में अति साधारण बातें हैं, जो प्रत्येक महान् व्यक्ति के जीवन में आई हैं । इनको जीतकर निरंतर कार्य करते रहकर ही मनुष्य सफलता प्राप्त कर सके हैं ।***

यूनिट-२० इंद्रिय संयम और विचार संयम

हमारी ज्ञानेंद्रियाँ, गतिविधियों का स्त्रोत :

पिछले यूनिट में हमने समय संयम और अर्थ संयम के संबंध में अध्ययन किया था और देखा था कि समय का सुनियोजन सफलता की एक महत्त्वपूर्ण शर्त होती है । समय का नाश जीवन का नाश होता है । धन का उपार्जन जितनी कुशलता से किया जाना चाहिए उससे अधिक कुशलता की आवश्यकता उसे व्यय करने में होती है । धन का अपव्यय अथवा अनुपयुक्त व्यय दोनों ही हानिकर हैं । परिश्रम से कमाए हुए धन को यदि उचित–अनुचित, स्वार्थ–परमार्थ का ध्यान रखते हुए विवेकपूर्ण ढंग से व्यय नहीं किया गया तो आप अपयश, असंतोष एवं पाप के भागीदार बनेंगे । दो अन्य प्रकार के असंयम अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं, जिनका निर्वाह जीवन में सफलता की कामना करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए ।

आग और बिजली की तरह ज्ञानेंद्रियों की उपयोगिता है । हमारी समस्त गतिविधियाँ उन्हीं के सहारे चलती हैं । आँखें न हों तो ? कान न हों तो ? जीभ न हो तो ? देखना, सुनना और बोलना कठिन हो जाए और मनुष्य अंधा, गूँगा, बहरा बनकर मिट्‌टी की तरह किसी प्रकार जीवित भर रह सकेगा । हाथ–पैर न हों तो वह गोबर के ढेर जैसा बैठा रहेगा और साँस भर लेता रहेगा । आग और बिजली की तरह भगवान ने इंद्रियाँ भी इसलिए दी हैं कि उनसे कठिनाइयों का हल निकाला जाए और प्रगति का द्वार खोला जा सके । सुसंपन्न और प्रगतिशील बनने में इंद्रियाँ ही प्रमुख भूमिका निभाती हैं । आग और बिजली की तरह उनकी क्षमता भी असाधारण है, लेकिन उनका लाभ

तभी तक है, जब तक कि उनका सत्प्रयोजनों में योजनाबद्ध रूप में सतर्कतापूर्वक उपयोग किया जाए । यदि इसमें व्यतिरेक उत्पन्न किया जाए, तो समझना चाहिए कि अनर्थ को ही आमंत्रित किया जा रहा है । स्रष्टा ने इंद्रियों में दुहरी विशेषताएँ भरी हैं । वे जीवनचर्या के महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्वों का भी वहन करती हैं, साथ ही उनमें सरसता का पुट भी है । जिसके सहारे कहीं बाहर न जाकर इन्हीं के सहारे मनोरंजन का भरपूर लाभ उठाया जा सकता है । यह कृत्य जब तक सीमाबद्ध रहता है, तब तक उनका उभय पक्षीय लाभ भी है, पर जब स्वाद की सरसता नशेबाजी की तरह व्यसन बन जाती है और मर्यादाओं का उल्लंघन करती है तो उससे होने वाली हानि भी असाधारण हो जाती है ।

इंद्रियों का अमर्यादित उपयोग विनाशकारी :

आँख का उपयोग वस्तुओं का देखना और उनका सदुपयोग करना है । अध्ययन–अध्यापन में भी उन्हीं की प्रधानता रहती है । शिल्प–व्यवसाय में आँखों की प्रमुखतापूर्ण भूमिका रहती है । यह उसका क्रियापक्ष हुआ । मनोरंजन पक्ष वह है, जब प्रकृति के सौंदर्य को निहारते हुए उल्लास भरा आनंद लिया जाता है । सौंदर्य–बोध उन्हीं के सहारे होता है । सिनेमा, अभिनय, नृत्य को सीमा से बाहर टकटकी लगाकर देखते रहने से आँखों की क्षमता नष्ट होती है । अन्य इंद्रियों के संबंध में यही बात है और यही बात उनके द्वारा किए जाने वाले रसास्वादन के संबंध में है । यदि उसमें अति बरती गई, लोलुपता को व्यसन बना लिया गया तो इसका प्रभाव उनकी निजी क्षमता का दिवाला पिट जाना तो होता ही है, हानि से सहज ही शरीर और जीवन भी प्रभावित होता है । इसी रसास्वादन में अति बरतने की आदत को वासना कहते हैं । शास्त्रकारों ने वासना की अतिशय निंदा की है और उसे आत्मघाती बताया है ।

सफलता की अनिवार्य शर्त इंद्रिय संयम :

इंद्रियों का संयम ही मानव जीवन में सबसे अधिक आवश्यक है । विशेष रूप से जिह्वा तथा जननेंद्रिय को वश में करना आवश्यक है । जिह्वा के दो कार्य हैं–रसास्वादन करना और वार्तालाप करना । ये दोनों ही कार्य महत्त्वपूर्ण हैं और इन पर संयम भी रखना आवश्यक है । पारिवारिक कलह तथा स्वास्थ्य नष्ट होने का मूल कारण जिह्वा का असंयम ही होता है । सीताहरण, लंकादहन, महाभारत वाणी की कटुता के कारण हुए । कटु वचन असहनीय होते हैं । कहते हैं कि तलवार का घाव भर जाता है, पर कटु वाणी का घाव जीवन भर रहता है । इंद्रिय संयम में दूसरा संयम है–जननेंद्रिय का संयम । ब्रह्मचर्य की महत्ता को भली प्रकार सब जानते हुए भी अज्ञानी बने हुए हैं । इसमें शिथिलता उत्पन्न करने वाली विचारधारा इसके लिए दोषी है । इसलिए व्यक्ति को आत्मसंयम द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए ।

विचार संयम की आवश्यकता :

व्यक्ति अपने विचारों को ही कार्य रूप में परिणत करता है । जो कुछ व्यक्ति सोचता है, वैसा ही करता है और वह वैसा ही बन जाता है । विचारों की अस्वच्छता से उत्तेजना, असहिष्णुता, निष्ठुरता जैसी पैशाचिक प्रवृत्तियाँ पनपती हैं । उन्हीं के कारण मनुष्य नर–पिशाच तक बन जाता है । विचारों को संयमित करके व्यक्ति लौकिक और आंतरिक जगत में आनंद लाभ ले सकता है । विचारों के असंयम से ही मन, समय एवं धन का अपव्यय आरंभ होता है । मानसिक क्षेत्र में हम अवांछनीय और निरर्थक चिंतनधारा को उपयोगी और सार्थक दिशा में मोड़ें, शारीरिक दृष्टि से इंद्रियों को विषयोन्मुख न होने देकर अंतर्मुखी, आत्मोन्मुखी करें और भौतिक संपदा का सही उपयोग करना सीख लें तो यह जीवन ही धन्य हो सकता है । जीवनोत्कर्ष के

लिए प्रयासरत हर साधक को चाहिए कि संयम की विभिन्न धाराओं को सही ढंग से समझें तथा जीवन में उनका समावेश करे ।

मानसिक शक्तियों का अपव्यय न करें :

साहित्यकार जब किसी कृति का सृजन करता है तो उसके मस्तिष्क में दुनिया की कोई बात नहीं रहती है, सारा ध्यान एवं उसकी संपूर्ण मानसिक शक्ति उस कृति के सुंदर बनाने में लगी रहती है । मानसिक शक्ति को सभी दिशाओं से रोककर अपने कार्य में लगाना चाहिए । संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उन्होंने अपनी मानसिक शक्ति को सभी दिशाओं से रोककर अपने कार्यों में लगाए रखा और उनका बिखराव न होने देकर महान कार्य संपन्न किए । प्राय: हमारी मानसिक शक्तियाँ उन विभिन्न दिशाओं में यों ही बिखर जाती हैं, उनका कोई उपयोग नहीं हो पाता और वे जब व्यर्थ दिशाओं में अनुपयुक्त और अवांछनीय ढंग से खर्च होती हैं, जो मनुष्य के पास उपयोगी कार्यों के लिए उपयोगी दिशाओं में लगाने के लिए मानसिक शक्ति रह ही नहीं पाती । विकास और अवनति के जो भी स्तर मनुष्यों में दिखाई देते हैं उनका कारण मानसिक शक्तियों का अनुपयुक्त अथवा अवांछनीय दिशाओं में लगना ही है । प्रत्येक व्यक्ति में मानसिक शक्ति के विकास की प्रचुर संभावनाएँ विद्यमान हैं, लेकिन वे विकसित तब होती हैं, जब उनका उपयोग करना सीखा जाए । उपयोग न किया जाए तो घाटा है और गलत दिशा में उपयोग किया गया तो हानि है । अत: साधक को अपनी मानसिक शक्तियों का प्रवाह गलत दिशा से रोकने के साथ-साथ उसे सही दिशा में मोड़ने की साधना में संयम की सफलता समझनी चाहिए अन्यथा वह एकांगी रह जाएगा और उससे कोई विशेष लाभ नहीं उठाया जा सकेगा ।

विचारों को सही दिशा दें :

किसी भी वस्तु का प्रभाव या कोई विचार हमारे मस्तिष्क में देर तक बना रहता है । यदि वह घनीभूत हुआ तो उसे प्राप्त करने या साक्षात् करने की भी आकांक्षा उठती है । उस आकांक्षा की पूर्ति के लिए मनुष्य प्रबल प्रयत्न भी करने लगता है अर्थात् विचार मनुष्य को कोई कार्य करने तथा किसी दिशा में प्रवृत्त करने का भी कारण है । विषयों का चिंतन करने से उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति से कामना और कामना में विघ्न पड़ने पर क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोध से मूढ़ता और मूढ़ता के कारण मनुष्य पथ–भ्रष्ट हो जाता है, जिससे उसका विनाश होता है ।

प्रायः हमारी शक्तियाँ इसी प्रकार नष्ट होती हैं । जिन विषयों का चिंतन हमें नहीं करना चाहिए या जो विचार प्रत्यक्ष पतन की दिशा में ढकेलने वाले लगते हैं उन्हें सोचने, समझने और मन के लड्डू खाते रहने में ही अधिकांश लोग अपना चिंतन और समय नष्ट करते हैं । प्रायः ज्यादातर लोग तरह–तरह के सपने देखा करते हैं और अपनी मानसिक शक्ति का जो श्रेष्ठतम उपयोग इस समय के लिए किया जा सकता था, उसे भविष्य का ताना–बाना बुनने या बीते हुए कल का पश्चात्ताप करने में नष्ट कर देते हैं ।

इस प्रकार के अपव्यय से हानि यह है कि हम अपनी मानसिक शक्तियों का लाभ उठाने से ही वंचित रह जाते हैं । अपनी शक्तियों को अवांछनीय दिशाओं में व्यय करना प्रत्यक्ष ही हानि उपस्थित करना है ।

मनुष्य विचार करने में स्वतंत्र है, इसलिए विचार जब आकांक्षा का रूप धारण कर लेते हैं तो व्यक्ति उस आकांक्षा को पूरा करने के अवसर की ताक में रहता है । अपराधकर्म या अवांछनीय कार्यों के जनक अपराधी और अवांछनीय विचार ही

हैं । बाहरी परिस्थितियाँ तो विचारों के अनुरूप ही प्रभाव डालती हैं । अर्जुन से एक बार इंद्र दरबार की अप्सरा उर्वशी ने प्रणय निवेदन किया । यदि अर्जुन विचारों से व्यभिचारी होते तो वही परिस्थिति उनके लिए पतन का कारण बन जाती, लेकिन अर्जुन ने विचारों का संयम, परिस्थितियों से अप्रभावित रहना सीखा था, सो वही परिस्थिति उनके चरित्र को निखारने वाली बन गई । अतः किसी दुष्कर्म का कलंक मिटाने के लिए यह नहीं कहा जा सकता है कि वह आकस्मिक या परिस्थितिवश हुआ । वस्तुतः उसकी जड़ हमारे विचारों में, हमारे चिंतन में, अनौचित्य के रूप में पहले ही जम चुकी थी ।

चिंतन को बहकने न दें :

अनावश्यक और अवांछनीय चिंतन में अपनी मानसिक शक्ति का अपव्यय रोकते रहने से ही उन्हें रचनात्मक दिशा में लगाने योग्य स्थिति बन पाती है । बाह्य परिस्थिति में परिवर्तन के लिए मानसिक संयम सर्वप्रथम आवश्यक है । **अपनी मानसिक शक्तियों की धारा अनावश्यक और अवांछनीय दिशा में मोड़कर रचनात्मक दिशा में प्रवाहित करते ही मनुष्य का कायाकल्प आरंभ हो जाता है ।** अवांछनीय और निरुपयोगी विचार ही मनुष्य को दिग्भ्रांत और पथ भ्रष्ट करते हैं । उन्हीं से तृष्णा, वासना, अहंता और उद्विग्नता आदि विकार उत्पन्न होते हैं । सिनेमा देखने और उपन्यास पढ़ने का प्रभाव अवांछनीय दिशा में बहक गया तो वैसी ही स्थिति प्राप्त करने का जी होने लगता है । यही बात अनुपयोगी चिंतन के कारण होती है और व्यक्ति अपनी इच्छित वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है । उसमें रुकावटें अहं को उत्तेजित करती हैं । ईर्ष्या, द्वेष और बैर–विरोध उत्पन्न होता है अथवा उद्विग्नता, उत्तेजना जैसे विकार उत्पन्न होते हैं । इन विकारों की जड़ है तो अवांछनीय और अनावश्यक चिंतन ही, पर ये विकार मानसिक

शक्तियों के दहन में घी का काम करते हैं । घी जलता है और जलती हुई चीजों में उसे डाल दिया जाए तो आग और भड़क उठती है । अवांछनीय चिंतन और अवांछनीय विचार तो मानसिक शक्ति को बर्बाद करते हैं, उनमें घृणा, वासना, अहंता और उद्विग्नता के विकार भी शामिल हो जाते हैं तो वह विनाश और भी अधिक भभक उठता है ।

क्या किया जाए ?

आज जिस समाज में फास्ट फूड, चायनीज एवं साउथ इंडियन डिशेज के नाम पर खाद्य–अखाद्य सब कुछ परोसा जा रहा हो, संगीत के नाम पर कर्णभेदी संगीत तथा जलते–बुझते प्रकाश और भड़काऊ नृत्य हो रहे हों, सौंदर्य प्रसाधनों के नाम पर विषैली रासायनिक गंधों वाले पाउडरों, कॉस्मेटिक्स एवं परफ्यूम का प्रचलन बढ़ रहा हो, टी. वी. एवं केबिल टी. वी. के माध्यम से परिवारों की शालीनता, संकोच, संस्कृति तक प्रभावित हो रही हों, बुकस्टालों पर विकृत मनोवृत्तियों को उकसाने वाली पत्रिकाएँ एवं उपन्यास बिना किसी रोक–टोक के बिक रहे हों, वहाँ आपसे इंद्रिय संयम की बात करना आपको असंगत लगेगा, आप कहेंगे, ''भला हम कर भी क्या सकते हैं ?'' हमारा आपसे निवेदन है कि आप निराश न हों, स्वयं को असहाय अनुभव न करें । आप स्वयं सोचें, क्या इसी समाज में आपको ऐसे परिवार नहीं मिलते जिनके पुत्र महत्त्वपूर्ण पदों पर हों, पुत्रवधुएँ साधारण रूप से सुंदर हों, घर में आधुनिक साधन भी हों, बाहर उनका अपना समवयस्क परिचय क्षेत्र भी हो, फिर भी वे संस्कारवान्, शांतिपूर्ण, सम्मानपूर्ण जीवन जी रहे हों ? वास्तविकता यह है कि **विचारों का असंयम ही इंद्रियजन्य असंयम को जन्म देता है** । इसके लिए कुछ सुझाव यहाँ दिए जा रहे हैं । कृपया प्रयोग स्वरूप इनका क्रियान्वयन करके देखें, प्रभाव स्वयं ही आपके समक्ष आने लगेगा ।

१. बच्चे चाहें वयस्क हों अथवा छोटे, उनके समक्ष अपना दांपत्य जीवन सहज, उल्लासपूर्ण, हलके–फुलके मित्रवत् तथा कामुकता रहित रूप में ही प्रस्तुत करें ।

२. अपनी व्यस्त दिनचर्या में से बच्चों के लिए कुछ समय अवश्य निकालें । उनकी समस्याएँ सुनें । उनका समाधान ढूँढ़ें । आत्मीयता प्रदान करें और विश्वास जगाएँ ।

३. पुत्र–पुत्रियाँ बड़ी हो जाएँ अथवा होने लगें तो उनसे मित्रवत् एवं भाई जैसा व्यवहार करें । उन्हें ऐसा लगे कि उनकी कोई ग्रंथि ऐसी नहीं है, जिसे वे अपने पिता अथवा माँ के समक्ष खोल नहीं सकते ।

४. परिवार का संपूर्ण वातावरण प्यार एवं सहकार से सराबोर हो ।

५. समय–समय पर किसी समाचार पत्र का अथवा पुस्तक का संदर्भ देते हुए बच्चों से विषैले बाजारू भोजन, हानिकारक सौंदर्य प्रसाधनों एवं कुत्सित साहित्य इत्यादि के संबंध में इस प्रकार चर्चा करते रहें कि जिससे शनैः–शनैः उनके प्रति उनमें अरुचि उत्पन्न होने लगे ।

६. टी.वी. कार्यक्रमों की बुराइयों के प्रति बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से उनमें घृणा उत्पन्न करें और प्रेरक सीरियलों के लिए उन्हें प्रोत्साहित करें ।

७. आपके बच्चों को कहीं भी ऐसा न लगे कि आप उन्हें इन बातों से बलात् रोक रहे हैं । आपको केवल सुझावात्मक उपचार करना है । आपके सुझाव वे सुनेंगे, वे अचेतन में चले जाएँगे । कालांतर में जब वे अचेतन से चेतन में आ जाएँगे तो वही उनके अपने विचार बन जाएँगे ।

८. अच्छे नवीन व्यंजन बनाना सीखिए । कभी–कभी परिवार में ही रोजमर्रा के ढर्रे से अलग व्यंजन बनाइए ।

९. बच्चों के साथ हँसना, खिल–खिलाना मत भूलिए और यदि आपको संगीत आता है तो सबके साथ कभी–कभी खुलकर गाइए–बजाइए ।

यूनिट-२१ पारिवारिकता एवं सामाजिकता

आपके जीवन पथ में आने वाली बाधाओं के प्रति आपको सचेत किया। साथ ही उन विशेषताओं की ओर भी आपको प्रेरित किया, जिन्हें अपनाने से आप सफल व्यक्ति कहे जाएँगे। आप समाज की प्रथम इकाई हैं। व्यक्ति परिवार का सदस्य होता है और परिवारों का दायित्व समाज के प्रति होता है। अब हम पारिवारिकता एवं सामाजिकता का अध्ययन करेंगे।

परिवार एक प्रयोगशाला :

व्यक्ति और समाज के बीच की कड़ी परिवार है। समाज का विशाल कलेवर परिवार की छोटी-छोटी इकाइयों का समूह ही है। कड़ियों के मजबूत होने से जंजीर मजबूत होती है। अस्तु हमें परिवारों का वातावरण ऐसा बनाना चाहिए जिसमें जन्मा, पला और बढ़ा व्यक्ति हर दृष्टि से सुयोग्य-सुविकसित बन सके। परिवार एक छोटा-सा समाज एवं छोटा राष्ट्र है । उसकी सुव्यवस्था एवं शालीनता उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, जितनी बड़े रूप में समूचे राष्ट्र की। इस छोटी-सी प्रयोगशाला में उसके प्रत्येक सदस्य को वैयक्तिक कर्त्तव्यों एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों को समझने, निबाहने की शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिल सके, ऐसा ढाँचा खड़ा किया जाना चाहिए। यह प्रवृत्ति विकसित होते-होते विश्व नागरिकता एवं मानव परिवार का सृजन करेगी। परिवार के प्रति अपने उत्तरदायित्व समझें जाएँ, किंतु उनके प्रति मोहग्रस्त न हुआ जाए।

परिवार एक तपस्थली :

परिवार संस्था एक तपस्थली है, जहाँ व्यक्ति स्वेच्छा से तप, त्याग, धर्माचरण का अवलंबन लेता है। परिवार में मनुष्य का

आत्मिक–मानसिक विकास सरलता से हो जाता है। परस्पर एक–दूसरे के प्रति कर्त्तव्य निभाने का धर्म मनुष्यों का जीवन निखार देता है। वस्तुतः परिवार की सार्थकता ही यह थी कि वह व्यक्ति की जहरीली संकीर्णता और तीक्ष्ण स्वार्थपरता को घिसता–पीसता था तथा उसे समरस बनाकर सहनशीलता, संतोष, सहयोग, सामाजिकता की, सेवा की भावनाएँ जगाकर समाज के लिए सहायक बनाता था। परिवार का द्वार सदा समाज की ओर खुलता है। जब उसका आधार प्रेम, त्याग और कर्त्तव्य–परायणता न रहकर एक दूसरे को खाते हुए जीने की घात लगाते रहना और छीनाझपटी की ताक में रहना ही हो गया तो फिर उसका परिणाम ऐसे नागरिकों के रूप में सामने आने लगेगा, जो एक दूसरे को लील जाने की तैयारी कर रहे हैं।

पाश्चात्य समाज में परिवार :

पश्चिम में आए दिन होने वाले संबंध विच्छेद बच्चों को जिस दारुण कुंठा और मानसिक अव्यवस्था का शिकार बना रहे हैं, वह भयावह है। मन में आत्मीयता की डोरी लहराती भी रहे तो, औद्योगिक जीवन की व्यस्तता में बच्चों से उसके जुड़ पाने का समय कहाँ ? जहाँ इंद्रिय लिप्सा और स्वच्छंदता ही परिवार का आधार है, वहाँ बच्चों की किसे चिंता है। स्वयं जीवन का सुख–स्वाद लेने से फुरसत मिले, तब तो बच्चों पर ध्यान दें। सभ्यता की मर्यादाओं के अंतर्गत बच्चों के प्रति औपचारिक जिम्मेदारियाँ तो निभाई जाती हैं, पर आंतरिक स्नेह के अभाव में सूनापन कभी भी दूर नहीं हो पाता। महामना ऋषियों ने भारतीय परिवार व्यवस्था में उच्च आध्यात्मिक लक्ष्यों को भी बड़ी खूबी के साथ जोड़कर रखा। **भारतीय परिवार–व्यवस्था को वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप उसमें थोड़ा–सा परिवर्तन परिमार्जन भर करके युगानुकूल आदर्श परिवार प्रणाली के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है।**

भारतीय समाज में पारिवारिकता :

भारतीय और पाश्चात्य समाज दोनों का अध्ययन, विश्लेषण करने वाले समाज शास्त्रियों का यह सर्वसम्मत निष्कर्ष है कि **भारतीय समाज पारिवारिक अधिक है, जब कि पश्चिमी समाज प्रधानतः व्यक्तिगत है ।** ऊपरी तौर पर पत्नी और बच्चों के मामले में इन दोनों समाजों में जो कुछ साम्य दीखने लगा है उसका भी विवेचन किया गया है और पाया गया है कि अभी भी यह समानता मात्र ऊपरी है । भीतरी भिन्नता मुख्यतः दृष्टिकोण की है । दोनों समाजों की खामियाँ–कमियाँ भी इसी भिन्न दृष्टि के कारण अलग–अलग हैं और विशेषताएँ भी । बाहरी तौर पर देखना हो तो यह भिन्नता बच्चों के मामले में अधिक है । भारतीय माता–पिता आर्थिक अभाव के कारण बच्चों के लिए समुचित साधन तो नहीं जुटा पाते किंतु सभी भारतीय माता–पिता बच्चों के प्रति समान रूप से संवेदनशील तथा आत्मीयतापूर्ण होते हैं । पारिवारिकता की इस भारतीय भावना को उपेक्षित नहीं संरक्षित एवं विकसित किए जाने की आवश्यकता है । इसके मूल में जो संवेदनाएँ हैं, सघन आत्मीयता की ऊष्मा और 'स्व' की परिधि के विस्तार की प्रेरणा है । यह मानव जीवन को समृद्ध बनाने वाली है । शिक्षित–समझदार लोगों का तो यह विशेष कर्तव्य है कि वे इसके मूल में सन्निहित विशेषता को भलीभाँति और फिर इन भाव भरी प्रेरणाओं का निरंतर पोषण करें । संगठन, सहयोग, भावनात्मक प्रगाढ़ता, पारस्परिक प्रेम, इच्छाओं–आवश्यकताओं के नियमन, आत्मानुशासन, एक–दूसरे के लिए त्याग की सत्प्रवृत्तियाँ इस पारिवारिकता से सहज ही विकसित होती चलती हैं । अपनेपन की विशेष अनुभूति ही पारिवारिकता का आधार है । यह अपनत्व कितना अधिक समर्थ एवं गुणकारी है । यह अनुभव की ही वस्तु है ।

इसी आपसी सौहार्द–सहयोग, स्नेह–सौजन्य का नाम

जीवन जीने की कला भाग–३/३७

पारिवारिकता है । इसके बिना आनंद कोसों दूर भाग जाता है । इस स्थिति को समाप्त करने के लिए वे प्रक्रियाएँ–प्रेरणाएँ तथा दिशाएँ अपनानी होंगी, जो पारिवारिकता की भावना को ही प्रधानता दें न कि उसकी उपेक्षा कर बौद्धिक जोड़–तोड़, स्वार्थ केंद्रित समझौते तथा भावनाशून्य सहजीवन का विचार करें और इसे ही आधुनिकता मान बैठें । यह आधुनिकता बहुत मँहगी पड़ेगी । इससे बचना चाहिए ।

टूटते संयुक्त परिवार :

एक साथ रहने से छोटे–बड़े सभी सदस्यों की समस्याओं का समाधान सहज ही निकल आता है । इस तरह के संयुक्त परिवार अपने देश में कभी बहुतायत से देखे जाते थे, पर आज यह प्रणाली विघटन के कगार पर दिखाई देती है । नव विवाहित दंपत्तियों में किन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर अपने परिवार से अलग होने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है । अनुभव की कमी और जीवन की स्वच्छंदता के कारण उठाया गया यह कदम इन दंपत्तियों को बहुत मँहगा पड़ता है । जब परिवार बनता है, बच्चों का जन्म होता है, उनके पालन–पोषण और व्यक्तित्व विकास का समय आता है, तब एक नहीं अनेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं और जिस स्वर्गीय–सुख की कामना से संयुक्त परिवार टूटा था, निरा स्वप्न सिद्ध होता है । भावावेश में उठाया गया यह कदम भी गलत सिद्ध होता है ।

पारिवारिक विघटन का सबसे ज्यादा प्रभाव बालकों के विकास पर होता है । संयुक्त परिवार में बच्चों को दादी–दादा का, चाचा–ताऊ आदि अनेक परिजनों का स्नेह–ममत्व मिलता है । बालक प्रेम और आत्मीयता भरे इस वातावरण में पुलकित हो उठते हैं । सब ओर से मिलने वाला प्रेम बालक के व्यक्तित्व का विकास करने में सबसे अधिक सहायक होता है । जबकि विघटित परिवार में केवल माता–पिता ही होते हैं । इनके

अतिरिक्त और किन्हीं आत्मीयजनों का स्नेह नहीं मिल पाता । बालक कोई गलती करता है तो माता–पिता खीझ उठते हैं । बच्चे को अनावश्यक रूप से डाँट–डपट देते हैं, जिसका प्रभाव उसके कोमल मन पर पड़ता है ।

सामाजिकता और मनुष्य :

मनुष्य सामाजिक प्राणी है । समाज के सहयोग से ही व्यक्तियों को सुखी–समुन्नत बनने का अवसर मिलता है । एकाकी उन्नति कितनी भी क्यों न कर ली जाए, विकृत परिस्थितियों में घिरे समाज में रहकर कोई भी सुख–चैन से नहीं रह सकता। जबकि समुन्नत समाज के हर सदस्य को अनायास ही सुख–शांति का लाभ मिलता रहता है. हमें अपने को समाज रूपी घड़ी का एक पुर्जा मानना चाहिए और ध्यान रखना चाहिए कि अपनी गतिविधियाँ ऐसी रखें कि जिसमें घड़ी की गतिशीलता ठीक बनी रहे। उसमें किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न न हो। इस दृष्टि से हमें **सामाजिक मर्यादाओं और नागरिक कर्त्तव्यों का सतर्कतापूर्वक पालन करना चाहिए।** साथ ही अपने प्रभाव क्षेत्र में ऐसा वातावरण बनाना चाहिए जिससे दूसरों की समाजनिष्ठा भी अक्षुण्ण बनी रहे।

दूसरों के साथ वही व्यवहार किया जाए जिसकी हम दूसरों से अपने प्रति अपेक्षा करते हैं। इस कसौटी पर जो भी कार्य खरे उतरें, उन्हें नैतिक एवं सामाजिक कहा जा सकता है। हमें किसी के नागरिक अधिकारों का हरण नहीं करना चाहिए। शोषण, दबाव, छल की नीति किसी के प्रति भी नहीं अपनाई जानी चाहिए। हर किसी को सम्मान दिया जाए और सद्व्यवहार किया जाए। अपराधी आचरण न तो स्वयं किया जाए और न दूसरों को करने दिया जाए। जहाँ अनीति बरती जा रही हो वहाँ असहयोग और विरोध तो किया ही जाए, आवश्यकता पड़ने पर संघर्ष करने और सरकारी सहायता से रोकने में

शिथिलता न की जाए। अनैतिक और असामाजिक कार्यों के विरोध में संगठित चेतना उत्पन्न की जानी चाहिए। प्रचलित अनैतिकताओं, कुरीतियों एवं मूढ़ मान्यताओं को निरस्त करने के लिए आंदोलन करते रहा जाए। ऐसे कार्यों में अपना समर्थन, सहयोग तो कदापि नहीं होना चाहिए। सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने वाले कार्यों को संभावित रूप से करने के लिए हर क्षेत्र में सहकारिता की प्रवृत्ति विकसित की जाए। मताधिकार का उपयोग बहुत समझ सोचकर उपयुक्त व्यक्तियों के पक्ष में ही किया जाए। ये चेतना लोकतंत्र के हर मतदाता में पैदा की जानी चाहिए। शिष्टाचार, सद्व्यवहार, मनुजता, सामूहिकता और नागरिकता की प्रवृत्तियाँ सभ्य समाज के प्रत्येक सदस्य को अपनानी पड़ती हैं। उसे अपना चिंतन उदार और कर्तृत्व आदर्श रखना पड़ता है। हमारा स्वभाव समाजनिष्ठ होना चाहिए। व्यक्तिवाद की उपेक्षा और समूहवाद के प्रति निष्ठा रखने वाले व्यक्तियों का समाज ही समुन्नत होता है और उसके सदस्य सुखी रह सकते हैं, यह तथ्य हर किसी को हृदयंगम करना और कराना चाहिए।

परिवार, भारतीय समाज का शक्ति-स्रोत :

समाज और संस्कृति के विकास में परंपरा का अपना एक महत्त्व रहा है। लोग अपनी परंपरा को शानदार बनाए रखने के लिए बड़े से बड़ा त्याग करते हैं और इस तरह के आदर्श कुलों का जहाँ बाहुल्य होता है, वह समाज भी आदर्श और महान बन जाता है। महात्मा विदुर ने युधिष्ठिर को आदर्श कुलों का आधार बताते हुए कहा था—तप, दम, ब्रह्मज्ञान, यज्ञ, दान, शुद्ध विवाह, सम्यक् विचारों से कुल आदर्श बनते हैं। इन बातों में कहीं भी ऐसा नहीं है कि धन अथवा भौतिक ऐश्वर्य संपदाओं से कुल की मर्यादा घटती हो। धर्म के आचरण से ही परिवार उन्नत होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवार की शान के लिए, उसकी समृद्धि एवं विकास के लिए, अपने जीवन में बड़े से बड़ा

काम करने की इच्छा रखता है। व्यक्ति जहाँ परिवार के भवन में धर्म आदर्श की सीढ़ियों पर ऊँचे-से-ऊँचा चढ़ता है, वहाँ ऐसे व्यक्तियों से समाज भी समुन्नत होता है और अनेक सदस्यों से युक्त परिवार का उत्थान सभी भाँति स्वच्छ, फलता-फूलता, समृद्ध और विकसित ही होता रहता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय परिवार व्यक्तिगत जीवन निर्माण के साथ-साथ सामाजिक जीवन की समृद्धि के लिए एक महान् प्रयोग है। **हमारे देश में अनेक आक्रमणों, आघातों को सहकर भी आज जो हमारी सामाजिक, सांस्कृतिक धरोहर सुरक्षित रही है, उसके मूल में परिवार संस्था का बहुत बड़ा योगदान रहा है। परिवार भारतीय समाज का शक्तिस्रोत ही रहा है।** आवश्यकता इस बात की है कि आज के परिवर्तनों, परिस्थितियों में परिवार संस्था को पुनर्गठित करके समाज की इस जीवनदायिनी धारा को अधिक शक्तिशाली और समृद्ध बनाया जाए ।

क्या किया जाए ?

बात अब व्यक्ति की नहीं है, परिवार की है ।व्यक्ति से परिवार और परिवार से समाज का निर्माण होता है । परिवार ही ''मिनी'' (लघु) समाज है ।**अतः यदि आपका अपना परिवार सुखी, संस्कारवान् बन गया तो समझ लीजिए कि आपने सुखी समाज निर्माण में बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान कर दिया है ।** गृहस्थ एक तपोवन है जिसमें संयम, सेवा और सहिष्णुता की साधना करनी पड़ेगी । चारों प्रकार के संयमों को जीवन-शैली का सहज अंग बनाइए। **परिवार के लिए जो कुछ करें, उसके पीछे अहसान अथवा अहंकार न हो । केवल सेवा-भावना ही हो ।परिवार के सदस्यों की कमियों एवं गलतियों को स्नेह पूर्वक सहिष्णु होकर सुधारने का प्रयास कीजिए ।** आपकी मधुर मुस्कान खिले फूल की भाँति पूरे परिवार को एक प्रफुल्लित उपवन बना देगी, जिसकी महक की अनुभूति आस-पास ही नहीं, दूर-दूर तक सबको होती रहेगी ।

जीवन जीने की कला भाग-३ /४१

यूनिट-२२

शालीनता, शिष्टाचार एवं प्रामाणिकता

शालीनता की कसौटी-सद्भाव :

भारतीय परिवार के स्वरूप को समझते हुए यह देखा कि विश्व के किसी भी देश की तुलना में भारतीय परिवार सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि उसमें त्याग, तप एवं भावनात्मक संबंधों के साथ–साथ कर्त्तव्यपालन की भावना भी मिलती है । पाश्चात्य देशों के परिवारों की कुंठा, तनाव एवं मानसिक अव्यवस्था यहाँ कम ही देखने को मिलती है । समाज चूँकि परिवारों के सम्मिश्रण से निर्मित होता है अत: भारतीय समाज की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं, प्राथमिक संबंध, सेवा, सहयोग, सम्मान, स्नेह एवं संवेदनापूर्ण व्यवहार । व्यक्ति को परिवार एवं समाज में सफल होने के लिए उन गुणों का अपने आचरण में अनिवार्यत: समावेश करना होगा, जो भारतीय परिवार तथा भारतीय समाज के लक्षण हैं । अब हम ऐसे महत्त्वपूर्ण मानवीय गुणों का अध्ययन करेंगे जिनके द्वारा आप अधिक प्रभावशाली बन सकते हैं । इनमें से प्रथम है–शालीनता । **शालीनता व्यक्ति की आंतरिक जागरूकता, सुरुचि, कलात्मकता एवं सौंदर्य भावना की बाह्य अभिव्यक्ति होती है ।** बात एक ही है, यदि इसे शालीनता से कहा जाए, तो वह सुनने वाले के मन को गहराई तक छू सकती है, पर यदि उसमें शालीनता का अभाव हो तो श्रोता पर विपरीत प्रभाव डाल सकती है और उसमें विकर्षण उत्पन्न कर सकती है । शालीनता अथवा उसका अभाव केवल वाणी में ही नहीं, व्यवहार में, घर की व्यवस्था में, वेश–विन्यास में भी देखा जा सकता है । अत्यधिक सज–धज, फैशन, टीम–टाम, वर्ण, अवसर अथवा मौसम से अनेमल रंग वाले वस्त्राभूषण ओछेपन

का फूहड़ विज्ञापन मात्र होते हैं । ये सब केवल शालीनता के अभाव के द्योतक होते हैं । आवश्यक नहीं कि जो कुछ मँहगा, मूल्यवान हो उसी से शालीनता झलके । सस्ती–साधारण वस्तुओं का उपयोग भी शालीनता का परिचायक हो सकता है । एक परिवार के ड्राइंग रूम (बैठक) की दीवार पर टँगे माचिस की तीलियों से बने चित्र, मेज पर रखे शीशियों के ढक्कनों से बना टेबिल लैंप, लकड़ी की खाली पेटियों पर गद्दे बिछाकर झालरदार चादरों से बनाया गया दीवान और फर्श पर रंगों से बनाई गई आकर्षक अल्पना उस परिवार की गृहिणी की सुरुचि एवं शालीनता को प्रमाणित करती है । यह आवश्यक नहीं कि हजारों रुपए के मूल्य वाले मखमली सोफे, मँहगी वॉलपेंटिंग्स एवं फर्श पर बिछे कीमती कालीन वाला ड्राइंग रूम उससे अधिक आकर्षक, सुंदर एवं शालीनतापूर्ण प्रतीत हो । सत्य तो यह है कि अपव्यय और उद्धत प्रदर्शन से शालीनता का स्तर गिरता है, बढ़ता नहीं । **शालीनता की सच्ची कसौटी है–सद्भाव** । जो व्यवहार, वाणी, व्यवस्था एवं वेष–विन्यास दुर्भावों को जन्म दें एवं उन्हें भड़काए वह शालीन कदापि नहीं कहा जा सकता है । किसी सस्ती साड़ी में लिपटी लज्जालु, कर्मशीला महिला की तुलना गहरी लिपिस्टिक, तीव्र परफ्यूम एवं मँहगी जीन्स का प्रयोग करने वाली पलपल अपन बालों को झटकती हुई तथाकथित आधुनिक बाला से करिए । आपको शालीनता–अशालीनता का अंतर स्पष्ट हो जाएगा ।

शालीनता के लिए शिष्टाचार :

शालीनता के साथ–साथ समाज में शिष्टाचार भी आवश्यक होता है । आप गर्मी की दोपहरी में किसी परिचित के घर जाएँ । वह घर में नहीं है । उसकी पत्नी अंदर की खिड़की से झाँक कर उत्तर दे देती है ''वह तो कहीं गए हैं'' और तत्काल

खिड़की बंद कर लेती है । इसके विपरीत यदि वह अपने बेटे को पुकारकर कहती ''देखो, तुम्हारे अंकल आए हैं'' बेटा द्वार तक आता, आपको आग्रहपूर्वक बैठक में बिठाता है, पंखा खोलता है, एक गिलास पानी आपको देते हुए कहता है, ''पापाजी तो बाहर गए हैं, आप बताएँ, मैं उनसे क्या कह दूँ ?'' स्पष्ट है कि पहली स्थिति को शिष्टाचार के विपरीत कहेंगे । **वस्तुतः नागरिकता, सामाजिकता, सभ्यता और शालीनता का समन्वित रूप ही शिष्टाचार होता है ।** व्यावहारिक जीवन में शिष्टाचार के अभाव में आपको एक भी कदम बढ़ना कठिन होगा । शिष्टाचार एक ऐसी विधा है, जो अपरिचित को भी अपना सहयोगी बना लेने में आपकी सहायता करती है । शिष्टाचार की कमी हमारी बनी बनाई बात भी बिगाड़ सकती है । यह बात स्पष्ट समझ ली जाए कि शिष्टाचार केवल बाहरी आवभगत नहीं है । शिष्टाचार की कृत्रिमता छिपाई नहीं जा सकती ।

शिष्टाचार के लक्षण :

मनुष्य को समाज में अनेक प्रकार की प्रकृति या स्वभाव वाले मनुष्यों से संसर्ग पड़ता है । कहीं उसका मतभेद होता है, कहीं भावों में संघर्ष होता है, कहीं उसे शंका होती है, कहीं उदासी, आक्षेप, प्रतिरोध या ऐसे ही अन्यान्य भावों का सामना करना पड़ता है । शिष्ट व्यक्ति ऐसे सब अवसरों पर अपने आपको संयम में रखते हुए सबके साथ संतुलित व्यवहार करता है । वह संकोचशील व्यक्तियों के साथ अधिक नम्र रहता है और मूर्खों का भी समाज में उपहास नहीं करता । वह किसी मनुष्य से बात करते समय उसके पूर्व संबंधों की स्मृति रखता है ताकि दूसरा व्यक्ति यह नहीं समझे कि वह उसे भूला हुआ है । वह ऐसे वाद–विवाद के प्रसंगों से बचता है, जो दूसरों के चित्त में खीझ उत्पन्न करे । जान–बूझकर संभाषण में अपने आपको प्रमुख आकृति नहीं बनाना चाहता और न वार्तालाप में अपनी थकावट व्यक्त करता है । उसके भाषण और वाणी में मिठास होती है और

अपनी प्रशंसा को वह अत्यंत संकोच के साथ ग्रहण करता है । जब तक कोई बाध्य न करे वह अपने विषय में मुख नहीं खोलता और किसी आक्षेप का भी अनावश्यक उत्तर नहीं देता । अपनी निंदा पर वह कान नहीं देता, न किसी से व्यर्थ झगड़ा मोल लेता है । दूसरों की नीयत पर हमला करने का दुष्कृत्य वह कभी नहीं करता बल्कि जहाँ तक बनता है, दूसरे के भावों का अच्छा अर्थ बैठाने का यत्न करता है । यदि झगड़े का कोई कारण उपस्थित हो भी जाए, वह अपने मन की नीचता कभी नहीं दिखाता ।

वह किसी बात का अनुचित लाभ नहीं उठाता और ऐसी कोई बात मुँह से नहीं निकालता जिसे प्रमाणित करने को वह तैयार न हो । वह प्रत्येक बात में दूरदर्शी और अग्रसोची होता है । वह बात–बात में अपने अपमान की कल्पना नहीं करता । अपने प्रति की गई बुराइयों को स्मरण नहीं रखता और किसी के दुर्भाव का बदला चुकाने का भाव नहीं रखता है । किसी चर्चा अथवा वाद–विवाद में दूसरे लोगों की लचर दलीलें, तीक्ष्ण व्यंग्य या अनुचित आक्षेपों से परेशान नहीं होता बल्कि मृदु हास्य के साथ उन्हें टाल देता है । अपने विचार में सही हो या गलत परंतु वह उन्हें सदा स्पष्ट रूप में रखता है और जान–बूझकर उनका मिथ्या समर्थन या जिद् नहीं करता । वह अपने आपको लघु रूप में प्रकट करता है, पर अपनी क्षुद्रता नहीं दर्शाता । वह मानवीय दुर्बलताओं को जानता है और इस कारण उन्हें क्षमा की दृष्टि से देखता है । अपने विचारों की भिन्नता या उग्रता के कारण वह दूसरों का मजाक नहीं उड़ाता । दूसरों के विचार सिद्धांतों और मंतव्यों का वह उचित आदर करता है ।

शिष्टाचार के लिए सुझाव :

जो समाज में सम्मान–प्रतिष्ठा के आकांक्षी हैं उन्हें शिष्टाचार बरतना ही चाहिए । शिष्टाचार की आवश्यकता पग–पग पर होती है, पर यहाँ व्यवहार में प्रायः प्रयोग की जाने वाली

कुछ बातों का उल्लेख किया जा रहा है। कृपया इन्हें अपनाकर शिष्टाचार की शुरूआत करें।

(१) सम्माननीय व्यक्ति, गुरुजन आदि मिलते हैं, हाथ जोड़कर या पैर छूकर या जैसी परिस्थिति हो उसके अनुसार आदर प्रकट करिए।

(२) सम्माननीय व्यक्ति को अपने से अधिक सम्मानित आसन पर बैठाएँ। उनके खड़े रहने पर खुद बैठे रहना, आसन न छोड़ना, उच्चासन पर बैठना अविनय है।

(३) सम्माननीय व्यक्ति के पास शिष्टाचार से बैठें। टाँग पसारना, बैठने में कुछ शान बघारते हुए आरामतलब बनना आदि ठीक नहीं।

(४) सम्माननीय व्यक्तियों के सामने उनके कारण के सिवाय अपने ही कारण से किसी दूसरे आत्मीय व्यक्ति पर क्रोध प्रकट करना ठीक नहीं। ऐसा काम आवश्यक ही हो तो यथासाध्य उनके उठकर चले जाने पर करना चाहिए। उनके सामने दूसरे पर अधिकार प्रदर्शन भी यथाशक्य कम करें।

(५) उपर्युक्त शिष्टाचार अपने घर आए हुए जनसमूह के सामने भी करना चाहिए। जब चार आदमी बैठे हों तब अपने आदमी को भी अपशब्द कहना ठीक नहीं।

(६) अपने साथियों से भी यथासाध्य शिष्टाचार बरतें।

(७) अपने से छोटों से शिष्टाचार का ठीक प्रत्युत्तर दें।

(८) खास जरूरत के बिना सदा मिठास से बोलें। आज्ञा में भी यथायोग्य शब्द और स्वर की कोमलता होनी चाहिए।

(९) रेलगाड़ी आदि में दूसरों की उचित सुविधा का ध्यान रखें।

(१०) गुरुजनों, महिलाओं तथा जो लोग धूम्रपान नहीं

करते, उनके सामने खास कर पास से धूम्रपान मत करिए ।

(११) साधारण दृष्टि से जो काम शारीरिक श्रम का हो और वह काम यदि बड़े करते हों तो उस काम को ले लीजिए या उसमें शामिल हो जाइए ।

(१२) प्रवास में महिलाओं की सुविधा का पूरा ख्याल रखिए ।

(१३) दूसरों का नंबर मारकर आगे मत बढ़िए । यह बात टिकट लेने, पानी भरने आदि के बारे में ही है, आत्म विकास की दृष्टि से नहीं ।

(१४) साइकिल से गिर पड़ने, पैर फिसलने आदि संकट में हँसो नहीं । दुर्घटना में सहानुभूति प्रकट कर सकें तो अच्छा है अन्यथा कम-से-कम चुप जरूर रहें ।

(१५) साधारणतः अपने मुँह से अपनी तारीफ मत करें, न अपने कामों का झूठा और अतिशयोक्तिपूर्ण अविश्वसनीय वर्णन करें ।

(१६) आपसी बातचीत में जहाँ बोलने की जरूरत हो वहीं बोलिए, बीच-बीच में इस प्रकार न बोलें जिसे सुनने वाले नापसंद करते हों ।

प्रामाणिकता की आवश्कता :

बैंक से पैसा पाने के लिए आवश्यक है कि या तो पहले से रखी हुई पूँजी खाते में हो या फिर कोई संपत्ति गिरबी रखकर उसके बदले आवश्यक राशि प्राप्त की जाए । बैंकों के पास प्रचुर धन होता है । तो भी वे बिना किसी आधार के हर माँगने वाले को उसकी इच्छित धनराशि देने के लिए तैयार नहीं होते, हों भी कैसे ? उन्हें अपनी राशि ब्याज सहित लौटानी भी तो है । जब तक वैसी संभावना सामने न आए तब तक बैंकों की उधार देने की नीति कार्यान्वित नहीं हो पाती । यह संसार भी एक बड़ा बैंक है । इसमें से प्रशंसा, प्रतिष्ठा, सहयोग, सहायता, सद्भावना

जैसी अनेक बहुमूल्य वस्तुओं का वितरण होता है । इन्हें कोई भी अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करके प्राप्त कर सकता है । मनुष्य का अद्यावधि इतिहास उस पूँजी के समान है जो बैंक के खाते में पहले से ही जमा होती है और उसके बदले में माँगा हुआ धन सरलतापूर्वक दिया जाता है । धन संबंधी ईमानदारी और कर्त्तव्य संबंधी जिम्मेदारी का समन्वय किसी व्यक्ति को प्रामाणिक एवं प्रतिष्ठित बनाता है । हर व्यक्ति को अपनी योग्यता बढ़ाकर तथा कठोर श्रम करके अधिक उपार्जन, उत्पादन करना चाहिए । तभी राष्ट्रीय समृद्धि और व्यक्तिगत क्षमता का विकास होगा, किंतु जो पैसा कमाया जाए वह न्याय, नीति युक्त एवं श्रम उपार्जित होना चाहिए । बेईमानी, मिलावट, रिश्वत, मुनाफाखोरी के उपार्जन को भी चोरी, लूट, ठगी, डकैती जैसे बड़े अपराधों की कोटि में ही गिनना चाहिए । प्रामाणिक व्यक्ति ईमानदार, कर्त्तव्यपरायण तो होता ही है, चरित्र भी उसका निष्कलंक होना चाहिए । **कार्यालयों, संस्थाओं अथवा सामाजिक कार्यों में नर–नारी की निकटता, घनिष्ठता और असाधारण सहयोग–सहकारिता सामान्य व्यक्ति की आँखों में खटकती है । इस संबंध में बहुत सतर्कता बरतने की आवश्यकता है ।** आपकी दृष्टि पवित्र है, मन निर्मल है, पर लोगों के मन में दूषित विचार पहले आते हैं, भले बाद में । कभी ऐसी विषम स्थिति आ जाए तो क्रोध हठवादिता करने से अथवा यह कहने भर से काम नहीं चलेगा कि हमारा मन साफ है तो हमें किसी की कोई चिंता नहीं है । ऐसी उक्तियाँ दूरदर्शितापूर्ण नहीं कही जा सकती हैं । आकांक्षाओं का ऐसा बवंडर उठेगा जिसमें आप अपना वास्तविक लक्ष्य भूल जाएँगे । जो कार्य आप प्रामाणिक बनकर सरलता से पूरा कर सकते थे, बदनामी के माहौल में असंभव–सा प्रतीत होने लगेगा । आप किस–किस का मुँह बंद करेंगे ? जो क्षमता आप अपना कार्य पूरा करने में लगाते, वह लोगों को समझाने

के असफल प्रयत्नों में लग जाएगी कि आप निर्दोष हैं, सच्चरित्र हैं । अतः ऐसी स्थिति से प्रारंभ से बचना बुद्धिमानी है । प्रामाणिकता के दर्पण पर आया हुआ बाल दूर से ही दिखाई देता है । आप धन के संबंध में, चरित्र के संबंध में तथा कर्त्तव्यपालन के संबंध में सावधान रहकर अपनी प्रामाणिकता बनाए रह सकते हैं ।

क्या किया जाए ?

उपेक्षा से व्यक्ति की आयु घटती है, जबकि स्नेह–सम्मान उसे दीर्घायु बनाता है । यदि आप चाहते हैं कि समाज को प्यार, प्रतिष्ठा एवं आत्मीयता प्रदान करें तो आपको प्रामाणिक बनना पड़ेगा । बेईमान, दुराचारी, अप्रामाणिक व्यक्ति को सभी घृणा की दृष्टि से देखते हैं । वह इक्कड़ बनकर अपने छोटे से परिवार तक ही सीमित रहकर नारकीय जीवन व्यतीत करता हुआ संसार से चला जाता है । उसके जीवन काल में अथवा उसके पश्चात् कोई उसकी प्रशंसा में दो शब्द कहने वाला भी नहीं होता । आप ऐसा जीवन जीना चाहेंगे ? कदापि नहीं । **यदि आपकी अभिलाषा है कि आपके बच्चे व आपकी पत्नी समाज में गर्व से सिर उठाकर चलें, आप समाज, देश अथवा मानवता का महत्त्वपूर्ण कार्य करें, आपके पड़ोसियों की सद्भावनाएँ–शुभकामनाएँ आपको मिलती रहें और आपकी जीवन यात्रा की समाप्ति के उपरांत समाज आपको याद करके अपूरणीय क्षति कहकर आपके प्रति श्रद्धावनत हो जाया करे तो प्रामाणिक बनिए । इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प है ही नहीं । आप जो कुछ हैं, जिस विभाग अथवा व्यवसाय में लगे हैं वहीं रहकर अपनी प्रामाणिकता सिद्ध कर सकते हैं । आर्थिक एवं चारित्रिक विश्वसनीयता अर्जित करने के लिए खर्च नहीं करना होता । केवल सावधान, सतर्क एवं सहज रहने की आवश्यकता है ।**

यूनिट-२३

परमार्थ परायणता

परमार्थ बुद्धि ईश्वरीय तत्त्व का प्रकाश है :

हमने जीवन में सम्मान और सफलता अर्जित करने की दृष्टि से तीन उपयोगी गुणों–शालीनता, शिष्टाचार एवं प्रामाणिकता का अध्ययन किया । मनुष्य की अंतरात्मा में ईश्वरीय तत्त्व का, सतोगुण का, जितना प्रकाश बढ़ता है, उतनी ही उसकी परमार्थ बुद्धि जागृत होती है । जो जितना स्वार्थी है, जिसकी भावनाएँ जितनी संकीर्ण हैं, दूसरों के दुःख दर्द में जिसे जितनी अरुचि है, उसे उतना ही नीच, क्षुद्र या पतित कहना होगा । पशुता का, तमोगुण का चिह्न एक ही है–केवल अपनी ही बात सोचना । यह भावना जब इतनी प्रबल हो जाती है कि दूसरों को हानि पहुँचाकर भी, अनुचित और अधर्म करके भी अपना लाभ सिद्ध किया जाता है, तो उसे असुरता कहते हैं । नर–पिशाचों की गतिविधियाँ ऐसी ही होती हैं, वे अपने छोटे लाभ के लिए दूसरों का बड़ा से बड़ा अनर्थ कर डालने में संकोच नहीं करते ।

मानवता का चिह्न यह है कि दूसरों की सुख–सुविधाओं का उनके उचित अधिकारों का ध्यान रखते हुए ही अपनी सुविधा एवं उन्नति की व्यवस्था करे । नीति और सदाचारपूर्वक उन्नति करने का मार्ग मनुष्यों का है । श्रेष्ठ मानव अपने स्वार्थों की हानि सहन करके भी दूसरों की सुख–सुविधा बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं । अपनी उन्नति रोककर भी दूसरों को उन्नतिशील बनाने में प्रसन्न होते हैं । दूसरों के सुख में अपना सुख और उनके दुःख समझकर जो परमार्थ में संलग्न रहते हैं, इसके लिए अपने स्वार्थ को भुला देते हैं, ऐसे त्यागी और परमार्थी व्यक्ति देवता कहे जाते हैं । जहाँ देवताओं का निवास होता है, वहाँ

स्वर्ग बन जाता है । स्वर्ग में किसी बात की कमी नहीं रहती, दु:ख, दारिद्र्य भी वहाँ फटकने नहीं पाते ।

आध्यात्मिक उत्कर्ष की कसौटी-परमार्थ :

आध्यात्मिक उन्नति की परीक्षा इस कसौटी पर की जाती है कि मनुष्य का स्वार्थ कितना घटा और परमार्थ कितना बढ़ा है । भजन–पूजन यदि सच्चा हो तो उसका प्रतिफल इसी रूप में परिलक्षित होना चाहिए । तृष्णा और वासनाएँ निम्न स्तर की मनोभूमि में बढ़ी–चढ़ी रहती हैं । जैसे–जैसे आंतरिक स्तर बढ़ता है, वैसे–वैसे मनुष्य संयम और सेवा की बात सोचने लगता है, तब संग्रह की नहीं, त्याग की वृत्ति बढ़ती है । दूसरों से अपना स्वार्थ कैसे सधे, यह सोचने की अपेक्षा उसकी इच्छा यह होनी चाहिए कि जो कुछ अपने पास है उसका लाभ दूसरे उठा सकें, ऐसा कुछ करते रहा जाए ।

कई व्यक्ति अपने लाभ के उद्देश्य से भजन करते हैं, कामनाओं से प्रेरित होकर उनके अनुष्ठान चलते हैं, स्वर्ग और मुक्ति की, ऋद्धि और सिद्धि की प्राप्ति के मनोरंजन को पूर्ण करना ही उनकी ईश्वर भक्ति का प्रयोजन रहता है । अध्यात्म क्षेत्र का यह प्रयास निम्नतम है । इसी प्रकार बाह्य जीवन में जिन्हें अपनी सुख–सुविधाएँ बढ़ाने के लिए प्रयत्न में संलग्न देखते हैं, वे भी नीचे स्तर के ही लोग माने जाएँगे । जिस देश, समाज में लोगों का आंतरिक स्तर नीचा रहता है, वहाँ कोई महत्त्वपूर्ण प्रगति दृष्टिगोचर नहीं हो सकती । आंतरिक संतोष एवं उल्लास का आधार परमार्थ ही माना गया है जिसकी अंतरात्मा सेवा, पुण्य, परोपकार और उदारता की भावनाओं से ओत–प्रोत रहती है, वस्तुतः वही महान् है । कर्त्तव्य पथ पर बढ़ते रहने का जिसमें जितना साहस है, उसे उतना बड़ा बलवान् और योद्धा माना जा सकता है । पुण्य और परमार्थ के मार्ग पर चलते हुए जो कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ती हैं, उन्हें जिसने

हँसते—हँसते बिना किसी शिकायत के सह लिया, वस्तुतः उसे ही महामानव कहा जाएगा । जहाँ ऐसे नर—रत्नों का बाहुल्य होता है, वह देश, वह जाति धन्य हो जाती है ।

परमार्थ साधना से मानवीय चेतना का विकास :

सबसे बड़ा स्वार्थ—साधन परमार्थ ही है । परमार्थ अर्थात् परम स्वार्थ । छोटे और ओछे, संकीर्ण और घृणित स्वार्थ की ही निंदा की गई है, पर जिससे अपना और सबका वास्तविक हित साधन होता है, उस स्वार्थ को, परमार्थ को निंदित नहीं प्रशंसनीय ही कहा जाएगा। आजीविका कमाना एक आवश्यक कार्य है। मनोरंजन एवं शरीर सुख का भी ध्यान रखा जाना चाहिए, पर इतने तक ही यदि सीमित रहा गया तो कहना पड़ेगा कि मनुष्य—जीवन जैसे बहुमूल्य सौभाग्य को कौड़ी मोल बर्बाद किया जा रहा है। सद्भावनाओं और सत्कर्मों के समन्वय से जो आत्मसंतोष मिलता है, आंतरिक उल्लास और आनंद का जैसा रसास्वादन मिलता है, उससे अधिकांश लोग अपरिचित ही रहते हैं। जिन बेचारों ने उस अमृत को चखा ही नहीं वे तुच्छ स्वार्थों को महत्त्व देते रहते हैं, पर जिन्होंने उच्च स्तर में प्रवेश करके उत्कृष्ट भावनाओं और श्रेष्ठ सत्कर्मों को अपने जीवन क्रम में समाविष्ट किया, उन्हीं का नर तन धारण करना सार्थक होता है।

मानव जीवन की सार्थकता इस बात पर निर्भर है कि उनमें कितनी परमार्थी भावनाएँ भरी हुई हैं। भावनाओं की उत्कृष्टता, सजीवता और प्रौढ़ता सत्कर्मों से परखी जाती है। इसलिए सत्कर्मों को लोक और परलोक की सुख—शांति का श्रेष्ठ साधन माना गया है। सत्कर्म करते रहने से ही सद्भावनाएँ बलवती एवं परिपुष्ट होती हैं। निरंतर कार्यान्वित होते रहने पर ही वे संस्कार का रूप धारण करती हैं। संस्कारों के आधार पर ही स्वर्ग एवं पुनर्जन्म की सुखद स्थिति का निर्माण होता है और

उन्हीं के आधार पर स्वभाव बनता है। जिन स्वभाव संस्कारों को लेकर प्राणी जन्मता है, वे बहुधा वही होते हैं जो उसके पूर्व जन्म में विचार और कार्यों के समन्वय से परिपक्व किए गए थे। उसी का जीवन सफल है जो परोपकार में प्रवृत्त रहता है। **परमार्थ अपने आप में जीवन की बहुत बड़ी साधना है जो मनुष्य को क्रमशः उसके लक्ष्य तक पहुँचा देती है। पाश्चात्य विद्वान विक्टर–ह्यूगो ने लिखा है–हम परोपकार के लिए जितना अपने आपको लुटाते हैं उतना ही हमारा ह्रदय भरता जाता है।** परमार्थ साधना से मनुष्य की चेतना असाधारण रूप से विकसित हो जाती है और वह महान् बन जाता है, जिससे जीवन में अपार और अनंत आनंद का लाभ प्राप्त होता है। **जो परमार्थ में लीन हैं उनके लिए संसार में कुछ भी तो दुर्लभ नहीं है।**

सामाजिक सुख-शांति का आधार-परमार्थ :

परमार्थ, मानव जाति की सुरक्षा, विकास और शांति का साधन है। वही समाज सुख–शांति और विकास के पथ पर आगे बढ़ सकता है, जिसके सदस्यों में परस्पर सेवा, सहयोग का व्यवहार हो। ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत संकीर्ण स्वार्थपरता का अस्तित्व नहीं रहता वरन् एक संयुक्त भावना का उदय होता है। इसमें किसी भी सदस्य के सुख–दुःख में दूसरे लोग भागीदार होते हैं और हाथ बँटाते हैं। कोई गिर जाता है तो दूसरे लोग उसे उठाते हैं, मदद करते हैं। **परमार्थवादी समाज में कोई व्यक्ति अपनी पृथक् इकाई नहीं रख सकता वरन् वह समाज के एक शक्तिशाली अंग के रूप में काम करता है। इससे जहाँ समाज को गारंटी मिलती है, वहाँ व्यक्ति को भी सुरक्षा, सह–जीवन की गारंटी मिलती है।** वह अपने जीवन को उपयोगी और अर्थपूर्ण समझने लगता है और अपने कर्त्तव्य, भार, उत्तरदायित्वों का भी बड़ी प्रसन्नता से निर्वाह करता है। इस तरह परमार्थवाद, व्यक्ति और समाज

दोनों के विकास, प्रगति, सुख और शांति, सुरक्षा और सहयोग को जन्म देता है।

वह समाज जीवित नहीं रह सकता जिसके सदस्यों के बीच परस्पर सेवा, सहयोग के आधार पर परमार्थ की भावना न हो। इसके अभाव में समाज के रोगी, अपंग, असहाय, वृद्ध व्यक्तियों का निर्वाह न हो सकेगा, उन्हें असमय मरने के लिए ही मजबूर होना पड़ेगा। स्वार्थवादी व्यक्ति क्योंकर इन अरुचिकर और अलाभकारी कामों में अपने आपको लगाएगा ? बच्चों की देखभाल, उनकी सेवा, शिक्षा, योग्य बनाने का प्रयत्न अधिकांशतः व्यक्ति के अपने जीवन में उनको लाभकर नहीं होता तो फिर स्वार्थ प्रेरित व्यक्ति क्यों इसमें अपने आपको खपाएगा ? पाश्चात्य देशों में ऐसा हो भी रहा है। वहाँ संतानहीन दंपत्तियों का अनुपात कुछ कम नहीं है और इसी से वहाँ की जनसंख्या स्थिर सी हो गई है। जिसमें स्वार्थपरायण व्यक्ति अधिक हों, वह समाज जीवित नहीं रह सकता और न वह उन्नति और विकास की ओर अग्रसर हो सकेगा क्योंकि केवल अपने स्वार्थ को महत्त्व देने वाले व्यक्तियों में एक दूसरे के प्रति षड़यंत्र, संदेह और अविश्वास का बोलबाला रहेगा। द्वेष, वैमनस्य उनका धर्म बन जाएगा और अंततोगत्वा ऐसा समाज छिन्न–भिन्न होकर नष्ट–भ्रष्ट हो जाएगा।

परमार्थ, आत्म-प्रेरित :

सभी समाज व्यवस्थाओं, धर्म परंपराओं में परमार्थवाद को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। इसी पर समाज का अस्तित्व एवं उसका विकास निर्भर करता है। **परमार्थ के अंतर्गत मनुष्य दूसरों के कल्याण, उनके लाभ, सुख, सुविधा के लिए प्रयत्न ही नहीं करता वरन् आवश्यकता पड़ने पर अपने वैध स्वार्थों का भी स्वेच्छापूर्वक बलिदान करने को उद्यत रहता है।** वह कभी किसी का बुरा नहीं करता। किसी को कोई हानि नहीं पहुँचाता।

स्मरण रहे **परमार्थ की पद्धति केवल रचनात्मक है।** इसमें बुरे के प्रति भी भलाई का ही रास्ता है। प्रतिक्रिया की उसमें कोई गुंजायश नहीं है। यह साधना ज्यों–ज्यों उत्कृष्ट होती जाती है, परमार्थ का स्वरूप भी निखरता जाता है।

किसी जोर जबर्दस्ती से नहीं वरन् स्वेच्छा से प्रेरित होता है परमार्थ। किसी लाभ या उपयोगिता का हेतु रख कर किया गया परोपकार झूठा है। ऐसे परमार्थ का कोई मूल्य नहीं होता. इतना ही नहीं उसमें किसी तरह के आनंद अथवा उपयोगिता की भावना भी नहीं रखनी चाहिए क्योंकि किसी लाभ अथवा उपयोगिता के हेतु पर टिकने वाले सामाजिक संबंध जल्दी ही तब छिन्न–भिन्न होकर अनुपयोगी सिद्ध हो जाते हैं, जब उक्त हेतुओं का स्रोत टूट जाता है।

परमार्थवाद जन–जीवन की सुरक्षा, समृद्धि व विकास का मार्ग है। इससे समाज के सभी अंगों को गति मिलती है। प्रत्येक इकाई अपने आपको अकेली, निस्सहाय नहीं समझती। इस पद्धति में व्यक्ति और समुदाय दोनों का ही भला होता है। इसीलिए संत, महात्मा, महापुरुषों ने परमार्थ को मानव जीवन का आवश्यक धर्म बताया है।

<u>परमार्थ की सार्वभौमिकता :</u>

परोपकार में किए जाने वाले कर्म, विवेक और मौलिक निर्णायक बुद्धि से प्रेरित होने चाहिए, तभी वे सत्परिणाम पैदा करते हैं। मोह, द्वेष, अंधविश्वास या किसी आसक्ति की प्रेरणा से किए गए कार्य दूसरों को हानि ही पहुँचाते हैं। मोहासक्त माँ–बाप अपने बच्चे की अनुचित माँगें पूरी करते हैं, उनमें बुरी आदतें डाल देते हैं जो उनके लिए अहितकर होती हैं।

परमार्थ एकांगी या एकदेशीय नहीं होता, वह सार्वभौमिक होता है। किसी व्यक्ति, संस्था या समूह विशेष से ही उसका संबंध न हो। ऐसी स्थिति में मनुष्य का संबंधित तत्त्वों से तो

परोपकार का व्यवहार होगा, किंतु इतर पदार्थों से नहीं। केवल अपने बच्चों के लिए भला चाहने वाले दूसरों के बच्चों के प्रति रूखा–बुरा व्यवहार कर सकते हैं। कई लोग अपनी जाति, दल या समुदाय में परस्पर सेवाभावी और सहयोगी बन सकते हैं, किंतु अन्य जातियों, समाज के दलों के प्रति उनका ऐसा व्यवहार नहीं होता। बड़े रूप में मनुष्य अपने देश के लिए सब कुछ लुटा सकता है, किंतु दूसरे देश पर आक्रमण कर उस पर कब्जा करने में उसे संकोच नहीं होगा। किसी संस्था का सदस्य बनकर उसके लिए मनुष्य अपने वैध हितों को भी उत्सर्ग कर सकता है, किंतु आवश्कता पड़ने पर अन्य संस्थाओं को अपना सहयोग, सहायता देने में कंजूसी भी वह कर सकता है। परमार्थ की ये सभी पद्धतियाँ अधूरी हैं, संकुचित हैं। **परमार्थजीवी का उद्देश्य सबकी सेवा, सबका भला, सबका कल्याण करना होना चाहिए।** सर्वजनहिताय, जहाँ भी दूसरों के लिए आवश्यकता हो, वही परमार्थ के पथिक को चाहिए कि बिना किसी आनाकानी के अपना कर्त्तव्य पूर्ण करे।

अदृश्य सृष्टा ने अपने दृश्यमान् स्वरूप को मानवीय काय–कलेवर में प्रकट किया है। साथ ही उससे यह भी अपेक्षा की है कि वह इन विभूतियों को व्यर्थ ही खर्च न करे और न ही स्वार्थपरता की होली खेले। उस पर ऊँचा उठे और आस–पास के परिकर में सदाशयता का बीजारोपण करे और निरंतर खाद–पानी देता रहे। यही है परमार्थपरायणता, जिस पर टिका है यह समूचा ब्रह्मांड।

क्या किया जाए ?

परमार्थ को पारंपरिक अर्थ में मत लीजिए। इसे स्वार्थ के विलोम रूप में समझना ही व्यावहारिक दृष्टि से अधिक उपयोगी है। **परमार्थ है आत्म–केंद्रित संकीर्णता से निवृत्ति, दूसरों के दु:ख–पीड़ा निवारण में आनंद की अनुभूति, सेवा–परोपकार में**

र–भक्ति के समकक्ष तल्लीनता एवं समर्पण। अर्थ, काम ए
द्वारा नियंत्रित होने पर हमारे कर्म मोक्ष प्रदान करने वे
न बन जाते हैं। अतः यदि आप दैनिक मजदूरी करते
ा व्यापारी हैं तो प्रतिदिन और यदि वेतनभोगी कर्मचारी
तन वितरण वाले दिन आय का कुछ अंश नियमित रूप
ल कर अपनी पूजा–इबादत के स्थान पर रख दिया करें
 लिए गुल्लक, डिब्बे अथवा घड़े का उपयोग किया ज
ता है। उस धन को सत्प्रयोजन के लिए लगाएँ। बच्चों
े की यह आदत डालें। इससे उनमें भी परमार्थ–परायणत
भावना विकसित होगी। **परोपकार करते समय यह ध्या**
य रखें कि वह धन केवल सत्पात्र को ही दें। याद रखें, यि
वाले ने धन का दुरुपयोग मदिरा पान आदि व्यसन में क
 तो पाप के भागीदार आप ही होंगे।

बड़प्पन और महानता केवल सादगी तथा शालीनता अपनाने से ही प्राप्त होती है । यह बात अलग है कि सीधी, सरल और सज्जनता की रीति-नीति अपनाकर तत्काल ही चर्चा का विषय नहीं बना जा सकता । इसमें देर लगती है, परंतु बड़ा बनने का राजमार्ग यही है ।

-माता भगवती देवी शर्मा

यूनिट-२४

बात केवल रुख बदलने भर की है

आनंद प्राप्ति, आज मनुष्य का लक्ष्य :

यह सब कुछ ऐसा था जिसे जीवन के विभिन्न अवसरों, परिस्थितियों में रहते समय आपने अनुभव किया होगा। वस्तुतः जो भी कहा गया वह आज की युगीन परिस्थितियों में जीवन जीने वाले सामान्य मनुष्य की भोगी हुई हताशा, कुंठा आदि को ध्यान में रखकर ही कहा गया। एक ओर लोगों की श्रद्धाभावना का शोषण करके आडंबरों के माध्यम से परोपजीवी साधु–फकीरों की भीड़ तो दूसरी ओर जीवनलक्ष्य पहचानने की सामर्थ्य प्रदान करने में असमर्थ शिक्षा प्राप्त करके नास्तिक बनती युवा पीढ़ी। इन दो यथार्थों के बीच किस प्रकार ऐसा जीवन जिया जा सकता है जिसमें आनंद का अक्षुण्ण प्रवाह हो और जीवन गौरव गरिमा से अभिमंडित भी हो सके।

हम देखते हैं कि आज हर व्यक्ति का लक्ष्य आनंद प्राप्त करना है। दिन–रात सभी उसी के प्रयत्न में लगे रहते हैं। जो जिस स्थिति में है उसी में उसे आनंद की अनुभूति हो रही है। गाँव का रहने वाला इसलिए प्रफुल्लित है क्योंकि उसे मुक्त प्रकृति, स्वस्थ जलवायु और अनेक प्राकृतिक साधनों का भोग करने का अवसर मिलता है। शहर का निवासी भी उससे कम प्रसन्न नहीं। उसे अपनी तरह के साधन प्राप्त हैं। उसे शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन, आवागमन आदि के ऐसे साधन–सुविधाएँ प्राप्त हैं जो गाँव में उपलब्ध नहीं हैं। कोई एक स्थान पर स्थायी रहकर सुखी है, किसी को चलते रहने में आनंद आता है। किसी को कृषि में आनंद है, किसी को रोज़गार में। सैनिक को अपना ही जीवन प्रिय है, दुकानदार को

अपनी स्थिति। अपनी मौज की सामग्री हर कोई खोज रहा है और उसमें ही आनंद अनुभव करता रहता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ सभी आनंद का ही जीवन जीना चाह रहे हैं। आनंद चिरस्थाई है या क्षणिक, उचित है या अनुचित, सात्त्विक है या असात्त्विक, विचारने के लिए इतना ही शेष रह जाता है।

सुख एवं आनंद में अंतर :

आज हम जिस स्वाभाविक आनंद की बातें करते हैं, वह वस्तुतः इद्रियजनित सुख है। **वह चिरस्थाई नहीं है, वह अस्थाई और कभी–कभी तो क्षणिक होता है।** उदाहरण के लिए हम काम–भावना को ही लें। मन के छः विकारों, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर्य में काम सबसे भयंकर है। वह इन सभी शत्रुओं का सेनापति है। कामसुख क्षणिक होने के साथ–साथ हमारे शरीर बल, मनोबल और प्राणशक्ति का बुरी तरह नाश करता है। स्वादिष्ट भोजन आनंददायक होता है, इसलिए सभी की यह कल्पना रहती है कि तरह–तरह की मिठाइयाँ, नमकीन, पकवान आदि प्राप्त किए जाएँ। उनसे इंद्रियजन्य सुख मिलता भी है, किंतु इस आनंद में दोष हैं। **भोग से रोग उत्पन्न होते हैं।** इस कहावत के अनुसार उन सभी सुखों को, जिनसे इंद्रियों के विषय तृप्त होते हों, वास्तविक आनंद की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। इन्हें सुख कहना ही उचित होगा।

पूर्ण आनंद वह है जहाँ विकृति न हो। किसी तरह की आशंका, अभाव या परेशानी न उठानी पड़ती हो। स्वाभाविक जीवन में जो आनंद मिल रहा है, उसमें हमारा अभ्यास बन गया है। इसलिए वह अनुचित हो तो भी वैसा नहीं लगता। इसलिए आनंद की परख की कसौटी नियत की गई है। **आनंद से शुद्धतम आनंद की प्राप्ति के लिए दृष्टिकोण परिमार्जन की आवश्यकता अनुभव की जाती है।**

हम कौन हैं ? :

लौकिक आनंद सिद्धिदाता नहीं है। इससे जीवन का उद्देश्य पूरा नहीं होता है। विचार, बुद्धि, तर्क, विवेक की जो साधारण तथा असामान्य शक्तियाँ मनुष्य को प्राप्त होती हैं, वे केवल सुखों के अर्जन में ही लगी रहें तो इसमें कुछ अनोखापन नहीं । देखने वाली बात यह है कि जीवन दीपक बुझने के पूर्व क्या हमने अपने आपको पहचान लिया है कि हम कौन हैं ? इस प्रश्न का सुलझ जाना ही सबसे बड़ी बुद्धिमानी है। आत्मज्ञान आनंद का मूल है। मनुष्य इस विषय में अज्ञानी बना रहा तो लौकिक जीवन में भटकते रहना पड़ेगा। सिद्धि आत्मा की शरण में ही जाने से मिल सकती है। मनुष्य की अन्यान्य आशंकाएँ आत्मज्ञान के अभाव में दूर होना संभव नहीं हैं।

हम यह जो प्रतिदिन आनंद प्राप्ति के साधनों में परिवर्तन और प्रयोग किया करते हैं, उससे भी स्पष्ट है कि हमें थोड़े आनंद की अपेक्षा अधिक शुद्ध और पूर्ण आनंद की तलाश है। एक कपड़ा पहनते हैं, तो दूसरी बार उस कपड़े की अच्छाइयाँ बुराइयाँ ज्ञात हो जाती हैं, और दुबारा कपड़ा खरीदते समय यह ध्यान रहता है कि इस बार का कपड़ा पिछले दोषों से रहित और कुछ अधिक आकर्षक हो। पहली रुचि भी शुद्ध होती है, आनंद की भी शुद्धि होती है और हम एक ऐसा आनंद चाहते हैं, जो पूर्ण और स्थाई हो, ऐसा आनंद लौकिक जीवन में उपलब्ध नहीं है। तब फिर पारलौकिक जीवन की बात सामने आती है और आत्मा–परमात्मा पर भी ध्यान जाने लगता है । यह सिद्धि भगवान की शरण में जाने से मिल सकती है।

दृष्टिकोण में परिवर्तन आवश्यक :

फिर भी लोगों की समझ में यह बात नहीं आती है और वे लौकिक सुखों में ही आसक्त बने रहते हैं। कारण कि हमारा दृष्टिकोण जैसा बन गया है उसमें कुछ परिवर्तन नहीं करना

चाहते। सूर्य प्रतिदिन अपने उसी क्रम में निकलता है। उसके प्रति हमारा दृष्टिकोण प्रतिदिन उगते रहने वाले सूर्य के जैसा ही होता है, किंतु यदि अपना थोड़ा दृष्टिकोण बदलें और विराट् जगत् की महान् क्रियाशील शक्ति के रूप में उस सूर्य का चिंतन करें तो वह महाप्राण अनेक विचित्रताओं से संयुक्त और जीवनदाता समझ में आएगा। दृष्टिकोण के परिवर्तन से समझने की स्थिति बदलती है और हम क्रमशः अधिक आनंद की ओर अग्रसर होने लगते हैं। दैनिक जीवन में ऐसी अनेक बातें आती हैं, जो यूँ तो सामान्य सी लगती हैं, किंतु वे अपने भीतर बहुत बड़ा अनोखापन और विज्ञान छुपाए होती है । हमारा दृष्टिकोण बोधक न होकर उथला रपट जाने वाला होता है, इसलिए महत्त्वपूर्ण वस्तुओं को छोड़ जाते हैं, और केवल उन्हीं सुखों के चिंतन में लगे रहते हैं जो स्थूल प्रयोग में आ चुके होते हैं।

दृष्टिकोण बदलता है तो सारी चीजें बदलती नजर आती हैं। जगद्गुरु शंकराचार्य ने बताया है—"यह संसार मरुभूमि है, इसमें सुख चाहते हो तो भगवान की शरण लो। आयु, श्री, यश और सांसारिक सुखों की उपलब्धि ईश्वर परायणता या आत्मचिंतन में ही है। यह दैवी संपत्ति है, पर यह बात समझ में नहीं आएगी, क्योंकि अभी तक हमने सुख और संसार के प्रति अपना रुख नहीं बदला। दृष्टिकोण बदल जाएगा तो सर्वत्र आनंद ही बिखरा दिखाई देगा।"

हम भोग से आनंद अनुभव करते हुए नहीं जानते कि इस संसार में और कुछ श्रेष्ठताएँ हैं । विचार द्वारा यदि आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व की बात समझ में आ जाए तो भोग की अपेक्षा त्याग में ही आनंद का अनुभव करने लगेंगे और तब दिन-प्रतिदिन मूल लक्ष्य की ही ओर बढ़ते चलेंगे। फिर यह शिकायत नहीं रहेगी कि ईश्वर चिंतन में आनंद नहीं आता। दृष्टिकोण की उत्कृष्टता का सवाल है। जिस तरह संपूर्ण चेष्टाएँ

भौतिक उन्नति में लगी हैं उसी तरह आध्यात्मिक उपलब्धियों में ही मन लग सकता है, पर पहले अपना लक्ष्य निर्धारित करना पड़ेगा, अपना हर कार्य इस दृष्टि से पूरा करना चाहिए कि हम शरीर नहीं आत्मा हैं।

आध्यात्मिक आनंद :

आध्यात्मिक आनंद, भौतिक और स्थूल आनंद की अपेक्षा सहस्र गुना अधिक है। इसलिए विज्ञजन सदैव ही यह प्रेरणा देते हैं कि मनुष्य शारीरिक हितों को पूरा करने में ही न लगा रहे। मनुष्य जीवन जैसे असाधारण उपहार पर भी आंतरिक दृष्टि से कुछ विचार करें। बंधनमुक्त आनंद ही स्थाई होता है। विषयजन्य सुखों की अनुभूति तो होती है, परंतु जिसे हम उचित समझते हैं, वह व्याधिकारक होती है। आनंद की कल्पना से किया गया कर्म यदि विक्षेप उत्पन्न करे तो उस आनंद को शुद्ध और पूर्ण मनुष्योचित नहीं समझा जाएगा।

प्रश्न यह नहीं है कि हम आनंद की प्राप्ति की ओर बढ़ें। वह तो हम कर ही रहे हैं। हर घड़ी आनंद की खोज में ही हमारी जीवन यात्रा पूरी हो रही है। जो शर्त है वह यह है कि हमारा आनंद शाश्वत, निरंतर और पूर्ण किस तरह हो ? इसके लिए कुछ बड़े परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। घर गृहस्थ का परित्याग भी नहीं करना, विचित्र वेशभूषा भी नहीं बनानी, केवल इस जीवन का मूल्यांकन सच्चे दृष्टिकोण से करने की आवश्यकता है। हम शरीर के हित तो पूरे करें, किंतु शरीर में व्याप्त यह जो आत्मा है, उसे विस्मृत न करें। आत्मा हमारे अज्ञान, आसक्ति और अभावों को दूर करने में सक्षम है। यह तीन परेशानियाँ—विघ्न पैदा न करें तो जिस आनंद की तलाश में हम हैं, वह इसी जीवन क्रम से उपलब्ध हो सकता है। आत्मा के विकास से ही अबाध, शाश्वत आनंद की प्राप्ति हो सकती है।

क्या किया जाए ?

आज का समय भयंकर विभीषिकाओं से भरा हुआ है। ऐसे में अपने समय, श्रम, धन और प्रतिभा का कुछ अंश पीड़ित समाज के लिए, त्राहि–त्राहि करती मानवता के लिए लगाने में यदि हम आनंद प्राप्त कर सकें, तो जीवन धन्य हो जाएगा और आने वाली पीढ़ी हमें साधुवाद देगी। देने के सुख से बढ़कर और कौन सा सुख है ? अपने प्रिय के लिए अपना सब कुछ देकर भी आनंद की अनुभूति होती है। देवताओं से सहायता माँगने की बात तो सदा ही चलती है, पर कुछ विशेष समय ऐसे भी आते हैं, जब देवता मनुष्य से याचना करते हैं। ऐसे अवसर किन्हीं सौभाग्यवानों को ही मिलते हैं, जब वे देवताओं की मनोकामना पूरी करने में समर्थ हो सकें। दशरथ को देवताओं की सहायता के लिए जाना पड़ा था। अर्जुन भी गए थे। दधीचि ने उदारतापूर्वक उन्हें दान दिया था। कृष्ण साधु के वेश में घायल कर्ण के पास पहुँचे थे। वामन ने बलि के सामने हाथ पसारा था। राम ने शबरी से बेर की याचना की थी। सुदामा से तंदुल माँगे गए थे। अंगद और हनुमान ने देवताओं से अपनी कामनापूर्ण नहीं कराई थी, वरन् उनकी पूर्ण की थी। इस प्रसंग में ऋषियों की परंपरा याद आ जाती है। विश्वामित्र ने हरिश्चंद्र से, उद्दालक ने आरुणि से, चाणक्य ने चंद्रगुप्त से, समर्थ ने शिवाजी से, परमहंस ने विवेकानंद से, विरजानंद ने दयानंद से कुछ माँगा था और सत्पात्र शिष्यों ने जी खोलकर दिया भी था। बुद्ध और गाँधी जी की झोलियाँ आदि से अंत तक फैली ही रहीं । देने वाले घाटे में नहीं रहे। लेने वाले जितने धन्य हुए उससे अधिक श्रेय देने वाले को मिला। मांधाता ने शंकराचार्य को दिया था, उससे अधिक पाया। अंगुलिमाल और आंबपाली, हर्षवर्द्धन और अशोक, बुद्ध को देते समय उदारता की चरम सीमा पर पहुँचे थे। गाँधी के सत्याग्रहियों ने अनुदानों की अपने दाँव पर झड़ी लगा दी थी।

जीवन जीने की कला भाग–३ / ६३

देखते हैं कि जो दिया गया था वह निरर्थक नहीं गया, वरन् असंख्य गुना होकर, उन उदारमनाओं के ऊपर दैवी वरदान की तरह इस प्रकार बरसा कि वे कृतकृत्य हो गए। धनी अकेले भामाशाह ही नहीं हुए हैं। मरण अकेले भगतसिंह के हिस्से में नहीं आया है। जेल अकेले नेहरू, पटेल ही नहीं गए हैं। मुसीबतें बहुतों को आती हैं, त्यागने के लिए हर किसी को विवश होना पड़ता है। किसी से चोर छीनता है, किसी से बेटा। पेट भरने और तन ढँकने के अतिरिक्त और किसी के पल्ले कुछ नहीं पड़ता है। जब विरानों के लिए ही सब कुछ छोड़ना है तो परायों का स्तर ऊँचा क्यों न उठा लिया जाए। जब अपना उपार्जन, श्रम, सहयोग, किसी को देना ही है तो, उन्हें देवताओं, ऋषियों एवं सदुद्देश्यों के लिए ही क्यों न दिया जाए ? इस उदारनीति को अपनाने वाले बैंक में जमा की गई पूँजी की तरह ब्याज समेत लंबा लाभ पाते हैं, जबकि मोह के गर्त में धकेली हुई उपलब्धियाँ निरर्थक ही नहीं जातीं, विघातक प्रतिक्रिया भी उत्पन्न करती हैं।

इसके लिए करना और कुछ नहीं है। **बात बस दृष्टिकोण बदलने भर की है। जो कुछ अपने परिवार के लिए कर रहें हैं, उसका एक अंश यदि देश और समाज के लिए लगाने लगें तो भगवान के काम में सहायक बनने का श्रेय पा सकेंगे। बस रुख बदलकर तो देखें। आप अस्थाई सुख के छोटे से दायरे से निकल कर अक्षय आनंद के साम्राज्य के अधिकारी बन जाएँगे। प्रयास कीजिए। हमारी शुभकानाएँ आपके साथ हैं।**

> ***प्रत्येक वस्तु को अपनाने की और अपने को परिस्थितियों के अनुसार ढालने की क्षमता रखें । उन्हीं वस्तुओं, गुणों, व्यक्तियों, संस्थाओं तथा पुस्तकों को अपनानासीखो, जो तुम्हारे योग्य हों ।***

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा